

(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

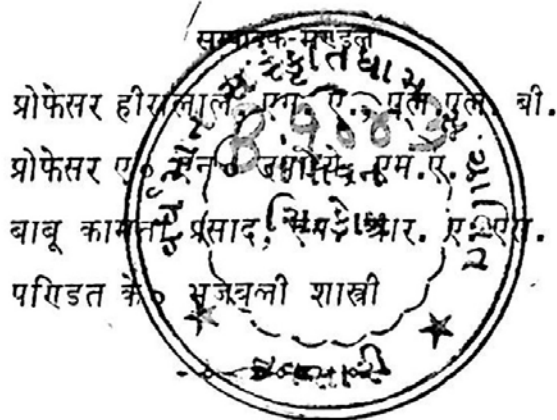
जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अथर्थात्

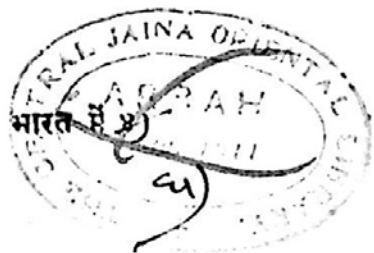
प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ३]

[किरण ३]



जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित



विदेश में ४॥७



विक्रम-सम्बत् १९९३

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

विषय	पृष्ठ
१ तार्किक-चूड़ामणि श्रीविद्यानन्द स्वामी ... श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ...	८५
२ पाण्ड्यवंश और वीर पाण्ड्य का क्रिया- निघण्टु ...	९०
३ जैनशिलालेख-विवरण ...	९७
४ जैन-गोत्र पर एक नज़र ...	१०४
५ जैनपाद-पूर्ति-काव्य-साहित्य ...	१०७
६ वर्तमान-हिन्दी ...	११३
७ जैन एवं बौद्ध-वाङ्मय में कुछ पारि- भाषिक शब्दों का साम्य ...	११९
८ जैनों के विश्वास ...	१२१
९ समालोचना ...	श्रीयुत पं० के० बी० शास्त्री

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ प्रशस्ति-संग्रह ...	श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री
२ तिलोपपण्णत्ती ...	„ प्रो० ए० एन० उपाध्ये
३ वैद्यसार ...	„ पं० सत्यन्धर आयुर्वेदाचार्य

अंग्रेजी-विभाग—

1. Vēṇūr & its Gommaṭa Colossus ...	By M. Govind Pai ...	51
2. Studies in Jaina Gotras ...	„ Prof. A. N. Upadhye	61
3. The Kalpasūtra ...	„ Dr. Bimla Churn Law	71

નમ્ર વિનંતિ

આ પુસ્તક નં. ૧૩-૧૦૪૩

નામ

તપોવન સંસ્કારધામ ચિત્કોષ (જ્ઞાનભંડાર)નું છે. હાલ જે આનો ઉપયોગ હોય તો આપ ખુશીથી રાખશો. (બીજા કોઇને અધ્યયન માટે આપવું હોય તો તે પણ જણાવશો. જેથી તેમના નામે કરી દઇએ.) પરંતુ ઉપયોગ ન હોય તો આપ નીચેના સરનામે પોષ્ટ દ્વારા જરુરિયાત પ્રમાણેની ટીકીટ લગાવીને મોકલશો તો શ્રુતરક્ષાનો અપૂર્વ લાભ મળશે અને શ્રુતની આશાતનાથી બચી શકાશે.

:- મોકલવાનું સ્થળ :-

તપોવન સંસ્કારધામ ચિત્કોષ
ધારાગિરિ, કબીલપોર, નવસારી-૩૮૬૪૨૪

THE JAINA ANTIQUARY.

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ३

दिसम्बर, १९३६। मार्गशीर्ष वीर नि० २४६३

किरण ३

तार्किक-चूड़ामणि श्रीविद्यानन्द स्वामी

(ले० श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०)

‘ विद्यानन्दस्वामी विरचितवान् श्लोकवार्त्तिकालंकारं ।

जयति कविविबुधतार्किकचूड़ामणिरमलगुणनिलयः ॥ ’

—देवेन्द्रकीर्तिः#

શ્રી કવર્ત્તિકાલંકાર કે રચયિતા તાર્કિકચૂડામણિ, કવિ, વિબુધ શ્રીવિદ્યાનન્દ સ્વામી જયશાલી હોં । વહ અમલ ગુણોં કે નિલય હેં ! શ્રીમદ્ભટ્ટાકલક્રુ દેવ કે ઉપરાંત હોનેવાલે આચાર્યોં મેં વિદ્યાનન્દ સ્વામી પ્રમુખ થે । કિન્તુ જિસ પ્રકાર શ્રીભક્તલંક દેવ કે જીવનચરિત્ર કે વિષય મેં હમેં બહુત કમ જ્ઞાન હૈ, ઉસી પ્રકાર ઉસસે ભી કમ શ્રીવિદ્યાનન્દ સ્વામી કે વિષય મેં જ્ઞાત હોતા હૈ । ‘આરાધના-કથાકોષ’ મેં ઇક

❧—હમ્બુજા કા શિલાલેખ નં० ૪૬ । †—જૈનહિતૈષી, મા० ૧૧ પૃઠ ૪૩૦ ।

कथा श्रीपात्रकेसरी स्वामी की है और समझा जाता था कि उसका सम्बन्ध विद्यानन्द स्वामी से है, क्योंकि पात्रकेसरी का ही अपर नाम विद्यानन्द अनुमान किया जाता रहा है*। किन्तु श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपने एक लेख-द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि विद्यानन्द और पात्रकेसरी दो भिन्न भिन्न आचार्य थे†। पात्रकेसरी अकलंक देव से भी पहले हुए थे। इस अवस्था में पात्रकेसरी की कथा का सम्बन्ध विद्यानन्द जी से नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त कनड़ी ग्रन्थ 'राजावली कथे' में भी विद्यानन्द स्वामी की एक कथा है,‡ परन्तु उसमें क्या वर्णन है, यह ज्ञात नहीं§। परिणाम-स्वरूप इस समय उनके जीवन-सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं लिखा जा सकता। श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने उनके ग्रन्थों के निम्न उद्धरणों के आधार से उनका अपर नाम 'सत्यवाक्य' या 'सत्यवाक्याधिप' भी सूचित किया है :—

‘विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः।’ — युक्त्यनुशासन-टीका।

*—पं० नाथूरामजी प्रेमो ने 'जैनहितैषो' वर्ष १ अंक १, में एक लेख प्रवट करके विद्यानन्द और पात्रकेसरी को अभिन्न सिद्ध किया था।

†—अनेकान्त भा० १ पृ० ६७—६८।

‡—जैन सिद्धान्त-भास्कर भा० २ पृ० १५७।

§ “राजावली कथे” में विद्यानन्द-सम्बन्धी कथा का सार यों है :—

विद्यानन्दि कर्णाटक-प्रान्तवासी एक जैन ब्राह्मण थे। युवावस्था में दग्दिवा देवी का इन पर प्रचण्ड कोप था। इस बीच में अन्तिम चोल राजा के दरबार में होते हुए अभिनय में सम्मिलित हो त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का पत्र बन कर इन्होंने अपने सरस एवं अर्ध अभिनय से सभी दर्शकों को मुग्ध कर दिया। इसी अभिनय में एक बार इन्हें जैनमुनि का भी पात्र बनना पड़ा। इसका यह परिणाम हुआ कि वहाँ के जैनो अपने परम पूज्य मुनि का स्वाङ्ग करना अपमान मानकर अप्रसन्न हो इन्हें मुनि-धर्म धारण करने को बाध्य करने लगे। अन्ततो गवा यह अपनी जन्मभूमि का त्याग कर उत्तर हिन्दुस्तान के कुरु-जांगल देश में जाकर जैन-मुनिवृत्ति से रहने लगे। एक बार यहाँ विचरते हुए सरोवर के तट पर उन्हें एक निधि दीख पड़ी। वहाँ ही विद्यादेव राय भी अचानक आ पहुँचा, जिसने उस निधि को देख कर लेना चाहा। किन्तु उसके रक्षक एक यक्ष ने उन्हें उस निधि को लेने से यह कह कर रोका कि यह निधि तुम मुनि विद्यानन्दि के प्रसन्न कर के ही ले सकते हो। अन्त में उन्हें भक्ति-द्वारा प्रसन्न कर तथा निधि एवं विद्यानन्दि स्वामी को लेकर विद्यादेव राय विद्यानगर स्थापित कर श्रावक धर्मपूर्वक शासन करने लगे।

पता नहीं कि इसमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है। साथ ही साथ यह भी नहीं मालूम कि इस कथा में वर्णित विद्यानन्दि यही हैं या दूसरे?

के० वी० शास्त्री

‘सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः ।’

—प्रमाण-परीक्षा ।

‘विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ।’

—आप्त-परीक्षा ।

चूँकि विद्यानन्द स्वामी का घनिष्ठ सम्बन्ध श्रीअकलंक देव से था, इस लिये उनका कार्यक्षेत्र भी दक्षिण भारत ही प्रतीत होता है। बहुत संभव है कि उन्होंने गंगवाड़ प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योंकि गंगवाड़ प्रदेश के राजा राजमल ने भी गंगवंश में होनेवाले राजाओं में सर्वप्रथम ‘सत्यवाक्य’ उपाधि या अपर नाम धारण किया था* । उपर्युक्त श्लोकों में, यह संभव है कि विद्यानन्द जी ने अपने समय के इस राजा के ‘सत्यवाक्याधिप’ नाम को भी ध्वनित किया हो। ‘युक्त्यनुशासनालंकार’ में उपर्युक्त श्लोक अन्तिम प्रशस्ति-रूप है और उसमें रचयिता-द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिये। समय के लिये तत्कालीन राजा का नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यवाक्य विजयादित्य का लड़का था और वह सन् ५१६ ई० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था† । उसका समय भी विद्यानन्द स्वामी के समयानुकूल है; क्योंकि निम्नलिखित प्रमाणों के आधार से वह नवीं शताब्दी के ही विद्वान् प्रमाणित होते हैं :—

(१) श्रीमद्भट्टकलंकदेव कृत ‘अष्टशती’ ग्रन्थ पर कुमारिल भट्ट ने आक्षेप किये थे। विद्यानन्द जी ने कुमारिल के इन आक्षेपों का उल्लेख अपने ग्रन्थ ‘अष्टसहस्री’ में ‘भट्ट’ नाम से किया है और उनका उत्तर भी दिया है। कुमारिल का समय ७५७ से ८७७ वि० सं० निश्चित है। इस लिये विद्यानन्द स्वामी इस समय से किञ्चित् उपरान्त अथवा कुमारिल के अन्तिम समय के विद्वान् ठहरते हैं‡ ।

(२) विद्यानन्द स्वामी ने ‘युक्त्यनुशासन’ ग्रन्थ के ३३ वें श्लोक की टीका लिखते हुये उदाहरण-स्वरूप धर्मकीर्ति का यह लक्षण-वाक्य उद्धृत किया है।

‘कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमितिलक्षणस्यार्थः प्रत्यक्षप्रत्यायनम् ।’

* —Rice, Mysore and Coorg P. 42—43

† —युक्त्यनुशासनालंकार के अन्तिम श्लोक में ‘विजय’ (प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः आदि) और ‘सत्यवाक्याधिप’ दोनों शब्द मिलते हैं जिनसे गंगराज, सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्य का नाम ध्वनित हो सकता है।

‡ —जैनहितैषी भा० ११ पृ० ४२८ ।

इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्द धर्मकीर्ति के बाद में हुये थे। धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी बताया जाता है^१।

(३) विद्यानन्द जी ने 'अष्टसहस्री' में भर्तृहरि के मत का उल्लेख किया है और भर्तृहरि का समय वि० सं० ७०० अनुमान किया जाता है। अतः विद्यानन्द इस समय के बाद ही हुये थे^२।

(४) विद्यानन्द जी ने मण्डन मिश्र के कई श्लोक उद्धृत किये हैं, जिसका समय वि० सं० ८०७ से ८६१ अनुमानित है। अतः विद्यानन्द का समय भी इसी के लगभग होना चाहिए^३।

(५) परन्तु उनका समय वि० सं० ८६५ से और पीछे नहीं माना जा सकता, क्योंकि शक सं० ७६० (वि० सं० ८६५) के लगभग भगवज्जिनसेन ने आदिपुराण रचा था और उसमें उन्होंने श्रीप्रभाचन्द्राचार्य की स्तुति की है^४ जिन्होंने विद्यानन्द जी का स्मरण अपने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ में किया है^५।

(६) श्रीवादिराज सूरि ने 'पार्श्वचरित' में विद्यानन्द स्वामी की स्तुति की है जिसे उन्होंने वि० सं० ८१२ (शक सं० ६४७) में रचा था^६।

अत एव श्रीमद्विद्यानन्द जी का समय वि० सं० ८१२ से ८६४ तक प्रकट होता है। डफ सा० ने विद्यानन्द का समय सन् ८१० ई० लिखा है^७।

किन्तु जिस प्रकार उनका गार्हस्थ्य-जीवन ग्रन्थकार में है उसी तरह मुनिजीवन भी अज्ञात है। मालूम नहीं कि उनके गुरु कौन थे। नगर जिला के शिलालेख नं० ४६ (सन् १५३०) में विद्यानन्द स्वामी की गुरु-परम्परा दी जाने का उल्लेख है^८; परन्तु कहा नहीं जा सकता कि यह कौन से विद्यानन्द हैं, क्योंकि १६ वीं शताब्दी में एक

१— { Annals of the Bhandarkara
Res. Instt. Vol. XV, P. 72

२—युक्त्यनुशासनम् (मा० प्र०) में प्रेमी जी लिखित परिचय, पृ० २।

३—रत्नकरण्ड आवकाचारः (मा० प्र०) भूमिका, पृ० ५८।

४—सिद्धं सर्वजनप्रबोधजननं सद्योऽकलङ्काश्रयं,

विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो निर्यं मनोनन्दनम्। इत्यादि।

५—पार्श्वनाथ-चरित पृष्ठ १०।

६—C. M. Duff. The Indian Chronology, P. 72.

७—Bibliographie Jaina, 499.

अन्य विद्यानन्द प्रसिद्ध वादी दक्षिण भारत में हो चुके हैं*। तो भी यह पता है कि विद्यानन्द स्वामी के समकालीन विद्वान् भट्टकलंक देव, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, वादिराज सूरि आदि थे। कर्णाटक आदि देशों में घूम कर उन्होंने जैनधर्म की प्रभावना के अनेक कार्य किये थे। वह महान् तार्किक विद्वान् थे। उनके विषय में अन्य आचार्यों ने जो मत प्रकट किये हैं, उनसे उनकी महिमा स्वयं प्रकट होती है। प्रभाचन्द्राचार्य जी ने 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' में उनके समन्तभद्र गुणों का उल्लेख किया है†। देवेन्द्रकीर्त्ति ने उन्हें 'कवि' और 'तार्किक-चूड़ामणि' उपाधियों से विभूषित किया है। और श्रीवादिराज सूरि ने लिखा है कि संसार में रत्नों से देदीप्यमान अलंकार-भूषण होते हैं। वे एक तो सीधे डोरों से गुथे हुए नहीं होते और दूसरे जो उन्हें पहिनता है उसी के अङ्ग का दीप्त करते हैं, परन्तु श्रीविद्यानन्द स्वामी का रत्नद्वय-भूषित अलंकार (श्लोकवार्त्तिकालंकार) ऐसा है कि वह सरलवाक्यों से गुथा हुआ है और जो उसे स्वयं पहिनते-पढ़ते भी नहीं हैं, केवल सुनते ही हैं, उनके अङ्ग में भी दीप्ति—हिताहित-विचार-शक्ति पैदा कर देता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है"‡।

ऐसे महान् ग्रन्थ के विद्वान् और निर्मलगुणालंकृत यतिपति के विषय में यह तुच्छ लेखक भला लिखने की क्या सामर्थ्य रखता है—वह तो केवल उन के गुणों का चिन्तन करके उनके समक्ष नतमस्तक हो जाता है! धन्य होगा वह दिन जब हमें विद्यानन्द स्वामी की परिचायक अमूल्य सामग्री उपलब्ध होगी।

*—हुम्बुच्च का शिलालेख नं० ४६ व अनेकान्त १।६७—७२।

†—'विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो निश्चयं मनोनन्दनम्।'

‡—पाश्वर्नाथचरित पृ० १०।



पाण्ड्यवंश और वीर पाण्ड्य का क्रिया-निघण्टु

(ले० श्रीयुत पं० के० मुजबली शास्त्री)



हाल में भवन के संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची उलटते समय अचानक मेरी दृष्टि एक अत्यल्प कलेवर क्रिया-निघण्टु नामक पुस्तक पर पड़ी। यह प्रति ११"×५" इंच लम्बे-चौड़े कागज के सवा तीन—पत्रों पर समाप्त हुई है। पत्रों के बायें-दायें एक-एक इंच एवं ऊपर नीचे पौन इंच हासिया छुटी हुई है। प्रत्येक पृष्ठ पर १३ से लेकर १५ तक पंक्तियाँ हैं। भिन्न भिन्न छन्द के १०२ श्लोक इस प्रति में हैं। लिपि कन्नड है। इसके निम्नांकित प्रारम्भिक श्लोक से यह कृति राजा वीर पाण्ड्य की लेखनी से समुद्भूत मालूम कर इसे मनोयोग-पूर्वक देखने को मैं और भी लालायित हो गया :—

“धातुप्रयोगपर्यायाः केचित्काव्योपयोगिनः।

वीरपाण्ड्यक्षितिशेन वक्ष्यन्ते शिञ्चितुं शिशून्॥”

दक्षिण कन्नड जिले में पाण्ड्य नाम के दो राजवंश शासन कर चुके हैं, अतः यह वीर पाण्ड्य किस वंश के हैं यह अपना अभिप्राय प्रकट करने के पहले सुविज्ञ पाठकों के समक्ष इन दोनों वंशों का कुछ परिचय प्रस्तुत कर देना मैं आवश्यक समझता हूँ। इनमें से एक की राजधानी ‘कार्कल’ थी और दूसरे की ‘बारकूर’। बारकूर में शासन करनेवाले पाण्ड्य-राजवंश का संक्षिप्त इतिवृत्त यों है। मधुरा पाण्ड्यवंशीय देव पाण्ड्य नाम के एक व्यक्ति ई० सन् १म शताब्दी में व्यापारार्थ तत्कालीन व्यापार के केन्द्रभूत तौलवदेशान्तर्गत बारकूर में आकर बस गये और वहीं के जैनी के यहां उनका विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। उस समय बारकूर तौलव-प्रान्त का एक प्रधान नगर था तथा लाल समुद्र अफ्रिका के पूर्व समुद्र एवं एजिप्ट के साथ इसका व्यापार-सम्बन्ध था। एक बार देव पाण्ड्य ने व्यापार-निमित्त एक बड़ा भारी जहाज बनवाया। नूतन-निर्मित जहाज को समुद्र में सन्तरण कराने के पूर्व उसके कारीगरों ने देव पाण्ड्य से कहा कि कुण्डोदर नाम का व्यन्तर-देव एक नर-बलि चाहता है। देव पाण्ड्य ने यह सुन जैनत्व के नाते बहुत क्षुब्ध होते हुए निरुपायावस्था में अपने ही लड़कों में से एक को बलि देना निश्चित कर इस असह्य अभिमन्त्रणा की सूचना अपनी स्त्री को दी। किन्तु इनकी स्त्री शिवदेवी इस बात से सहमत नहीं हुई। पर देव पाण्ड्य की जिस बहन की शादी उसी तौलव-प्रान्त के एक जैनी से हुई थी वह अपने भाई को अपनी स्त्री से अपमानित तथा व्यापार-निमित्त आयोजित विराट् आयोजना में भीषण बाधा उपस्थित देख अपने इकलौते पुत्र

को बलि देने को तैयार हो गयी। बहन का नाम सत्यवती एवं लड़के का नाम जय था। जिस समय जय बलि-वेदी पर खड़ा हुआ उसी समय कुण्डोदर ने प्रत्यक्ष हो कर कहा कि मैं सन्तुष्ट हो गया हूँ—अब बलि की ज़रूरत नहीं। श्री शङ्कराचार्य के “शङ्कर दिग्विजय” से भी पता चलता है कि ई० सन् ८ वीं शताब्दी तक भारत में नरबलि की प्रथा जारी थी।

बाद देवपाण्ड्य ने पर्याप्त रूप से वाणिज्य वस्तु लाद एवं अपने छोटे भाई नारायण पाण्ड्य को अध्यक्ष बना कर और और जहाजों के साथ अपने नवनिर्मित जहाज को भी व्यापार के निमित्त एजिप्ट को भेज दिया। ये जहाज लाल समुद्र को पार कर उसके उत्तर भाग में अवस्थित एजिप्ट के बर्निस बन्दरगाह पर पहुँच गये। उस जमाने में यह एक बड़ा प्रसिद्ध बन्दरगाह समझा जाता था। इसका व्यापार-सम्बन्ध रोम साम्राज्य से भी रहा। उस समय लाल समुद्र के उत्तर भाग में बड़ी बड़ी चट्टानें थीं एवं आज कल के समान समुद्र में तूफान का भी प्रबल वेग रहता था। जिस समय देव पाण्ड्य के जहाज इस बन्दरगाह में लगे हुए थे इसी बीच में एक भीषण तूफान के कारण इनके तीन जहाज पूर्वोक्त चट्टानों के बीच में जाकर अटक गये। परन्तु कुछ दिनों के बाद एक दूसरे तूफान के भोंके से वे जहाज वहाँ से रक्षा-पूर्वक निकल आये। बाद जहाजों के अध्यक्ष नारायण पाण्ड्य जहाजों पर की अपने यहाँ की लदी हुई चीजों को बेच एवं बर्निस से नयी चीजें खरीद तथा भर कर अपने देश को लौट आये। साथ ही साथ वे उस समय नगर की वायव्य दिशा में अवस्थित पर्वत की खान से हरित मणियाँ और सुवर्ण बनाने का एकमात्र साधन सिद्ध रस भी लेते आये। एजिप्ट के प्राचीन इतिहास से भी यह बात सिद्ध होती है कि सु-प्राचीन काल में बर्निस एजिप्ट का एक प्रसिद्ध प्राचीन बन्दरगाह था, लाल समुद्र के उत्तर में चट्टानों की संख्या अधिक थी, नगर के वायव्य कोण में हरित मणि की खानें थीं एवं सिद्धि कहलानेवाले वहाँ के कुछ लोग सुवर्ण बनाने में सिद्ध-हस्त थे।

इधर बारकूर में नारायण पाण्ड्य की अध्यक्षता में यहाँ से जहाज चले जाने पर अपने पुत्र की व्यन्तर देव को बलि देने में असहमत देवपाण्ड्य की स्त्री अपने बच्चों के साथ मायके को चली गई और वहाँ से फिर लौट कर नहीं आई। इस बीच में बारकूर के शासकों में कोई राज्य का उत्तराधिकारी नहीं होने से वहाँ की प्रजाओं ने पाण्ड्य-राजवंशी देव पाण्ड्य के भाँजे जय को ही योग्य समझ कर राजसिंहासनारूढ़ किया। कुण्डोदर नामक व्यन्तर (भूत) के अनन्य भक्त लोगों ने कुण्डोदर को आत्मसमर्पित करने तथा उससे वरदान-द्वारा रक्षित होनेवाले जय का राजपट्ट-नाम भूताल पाण्ड्य रक्खा। उन दिनों यह तौलव प्रान्त बनवासी कदम्बों के साम्राज्यान्तर्गत था। कदम्ब साम्राज्य का महामण्डलेश्वर गोकर्ण में रहता था और इसी के अधीनता में भूताल पाण्ड्य बारकूर में राज्यशासन करता था। व्यापारार्थ बर्निस गये हुए

जहाज जब छः साल के बाद बारकूर बन्दरगाह पर पहुंचे तो भूताल पाण्ड्य अधिक काल होने के कारण पहले-पहल उन्हें पहचान नहीं सके। जिस समय देव पाण्ड्य को अपने जहाजों को विदेश से रक्षापूर्वक लौट आने की खबर मिली उस समय अपनी कुल सम्पत्ति बहन के लड़के भूताल पाण्ड्य (जय) के हवाले कर दी। क्योंकि स्त्री तो इनसे रुष्ट हो बच्चों को लेकर सदा के लिये मायके को चली ही गयी थी। बल्कि देव पाण्ड्य ने राजा भूताल पाण्ड्य से समस्त तौलव प्रान्त में यह नियम घोषित करवा दी कि अब से सम्पत्ति के उत्तराधिकारी स्त्री-पुत्र नहीं होकर बहन और उसकी सन्तान ही हुआ करेगी। क्रोधोद्रेक से देव पाण्ड्य द्वारा संचालित धर्मशास्त्र एवं नीतिविरुद्ध इस काला नियम ने कुछ स्वार्थियों की कृपा से आज भी वहां पर अपनी सत्ता को नहीं खोया है।

हाँ, इधर इसमें कुछ परिवर्तन हुआ है अवश्य, पर इसी से सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। देव पाण्ड्य इस कानून को तौलव देश में ही जारी कर सन्तुष्ट नहीं हुए। बल्कि मलयाल (मालाबार) राज्य के शासक से अन्तरंग सौहार्द होने के कारण वहाँ भी मरिमक्तायम् नाम से इस दायभाग सम्बन्धी कानून को प्रचलित करा दिया था। किन्तु हर्ष की बात है कि वहाँ से यह काला कानून सदा के लिये उठ गया। यदि ब्रिटिश सरकार चाहे तो तौलव देश (६० क० जिला) से भी उठना कोई मुश्किल नहीं है। पर ज्ञात होता है गवर्नमेन्ट इस पर हस्तक्षेप करना ही नहीं चाहती। इसमें कोई शक नहीं कि भूताल पाण्ड्य एक बड़ा शक्तिशाली शासक था, अन्यथा समस्त प्रान्त तथा जाति को इस लोक एवं धर्मविरुद्ध कानून को मानने के लिये सहमत करना साधारण बात नहीं है। हाँ एकमात्र ब्राह्मण वर्ण ही इस कानून के विरुद्ध खड़े होकर इस से अब तक मुक्त हैं।

राजा भूताल पाण्ड्य ने ७४ वर्षों तक बारकूर राजधानी में रह एवं प्रजाप्रिय बन कर धर्म-पूर्वक राज्य का शासन किया। इनके शासनकाल में बारकूर बड़ी उन्नतावस्था को प्राप्त हो गया था*। इनके बाद क्रमशः ई० सन् १४८ में विद्युन्न पाण्ड्य, ई० सन् २६२ तक वीरपाण्ड्य, ई० सन् २८१ तक चित्रवीर्य पाण्ड्य, ई० सन् २९० तक देववीर पाण्ड्य ई० सन् ३१६ तक बलवीर पाण्ड्य और ई० सन् ३४३ तक जयवीर पाण्ड्य शासक बने रहे। इसके आगे इस पाण्ड्य वंश का कुछ पता नहीं चलता। अबरहा कार्कल में शासन करनेवाले पाण्ड्यवंश का परिचय।

जिस समय तौलव या वर्तमान दक्षिण कन्नड जिलान्तर्गत कार्कल, ऐदुरु आदि सात प्रान्तों का कापिट्टु हेगाडे शासन कर रहा था उस समय प्रजायें इनके दुःशासन से ऊब गयी

* “वीर” वर्ष ४ अंक १२-१३ में प्रकाशित मेरा बारकूर लेख देखें।

† देखें “दक्षिण कन्नड जिलेय प्राचीन इतिहास”

थीं। इन्होंने एक बार प्रजाओं से यह कहा था कि अब से मैं तुम लोगों से कर पलंग पर पड़े पड़े लूंगा; किन्तु अपमान समझ कर प्रजाओं के घोर विरोध करने पर हेग्गडे ने अपने आदेश में यह परिवर्तन किया कि मैं पड़े पड़े कर लूंगा तो तुम लोग भी बैठे बैठे कर देना। इस आदेश से सहमत हो कर जब दूसरे दिन प्रजायें कर ले गयीं तो उक्त अविवेकी शासक हेग्गडे खास कर प्रजाओं को अपमानित करने की नियत से ही इनके बैठने में अनिवार्य असुविधा पहुंचाने के लिये अपने भवन के सामने मैदान में कीचड़ का दलदल तयार करा एवं बीच में पलंग लगा कर उस पर लेट गया। इस विकट परिस्थिति को देख एवं क्षुब्ध होकर विना कर दिये ही प्रजायें लौट गयीं। इसी बीच में हुम्बुच्च के शासक जिनदत्त राय के वंशज भैरव पाण्ड्य अपनी पवित्र तीर्थभूमि मूडविट्टी से लौटती बार कार्कल में उतरे हुए थे। वहीं जाकर प्रजाओं ने उनसे हेग्गडे का यह कच्चा चिट्ठा कह सुना कर न्याय-भिक्षा माँगी। तदनुसार भैरव राय ने हेग्गडे को बुला कर समझाया और कहा कि प्रजाओं का दिल दुखाना राजा का धर्म नहीं है। किन्तु इनके समझाने का हेग्गडे के हृदय पर कुछ भी असर नहीं हुआ। अन्ततो गत्वा भैरव पाण्ड्य ने हुम्बुच्च से सेना बुला एवं युद्ध में हेग्गडे को हरा कर उसके अधीनस्थ प्रान्तों पर कब्जा कर लिया। यह तो हुम्बुच्च की राजधानी में ही रह कर प्रजाओं का शासन करते रहे। किन्तु इनके उत्तराधिकारी शासकों ने अपने शासन का केन्द्र कार्कल को ही बनाया। इस वंश में निम्न लिखित शासकों ने शासन किया है:—

(१) पाण्ड्य देवरस या पाण्ड्य चक्रवर्ती (२) लोकनाथ देवरस (३) वीर पाण्ड्य देवरस (४) रामनाथ अरस (५) भैरवस ओडेय (६) वीर पाण्ड्य भैरवस ओडेय (७) अभिनव पाण्ड्य देव अथवा पाण्ड्य चक्रवर्ती (८) हिरिय भैरव देव ओडेय (९) इम्मडि भैरव राय (१०) पाण्ड्यप्प ओडेय (११) इम्मडि भैरव राय (१२) रामनाथ (१३) वीर पाण्ड्य '†'।

वारकूर तथा कार्कल में शासन करने वाले दोनों ही पाण्ड्य वंशों में वीर पाण्ड्य नाम के व्यक्ति मिलते हैं अवश्य। किन्तु आजतक के अन्वेषण से वारकूर में शासन करने वाले पाण्ड्य-वंश में न कोई साहित्यिक शासक ही प्रमाणित हुआ है और न किसी साहित्यिक विद्वान् ही की इस राजदरबार में चर्चा सिद्ध होती है। साथ ही साथ इस कृति को देख कर इसे ई० सन् ३५ शताब्दी में रचित कहने को दिल कबूल भी नहीं करता।

अब रहा कार्कल का पाण्ड्य-वंश। यह पाण्ड्य-वंश विद्वानों को आश्रय देने में सुविख्यात है। बल्कि “भव्यानन्द शास्त्र” के प्रणेता पाण्ड्यक्षमापति जैसे साहित्यिक राजरत्न

* इस वंश का संचित परिचय प्रशस्ति-संग्रह ३६ में देखें।

† देखें “दक्षिण कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास”।

शासक इसी वंश में प्रादुर्भूत हुए हैं ॐ । देवचन्द्र, कल्याणकीर्त्ति, नागचन्द्र, देवेन्द्रकीर्त्ति वर्द्धमान और रत्नाकरसिद्ध आदि कई दिग्गज विद्वान् एवं कवि इसी राजवंश के गौरव-स्वरूप आस्थान-पण्डित थे । इससे निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह कार्कल कुछ समय के लिये विद्वानों का केन्द्र सा बन गया था । इस वंश के राजगुरु ललितकीर्त्ति जी स्वयं एक बहुदर्शी प्रतिभाशाली विद्वान् थे १ । उल्लिखित-वंश-तालिका से यह ज्ञात होती है कि इस वंश में तीन वीर पाण्ड्य हो गये हैं । अतः इस “क्रिया-निघण्टु” के रचयिता कौन से वीर पाण्ड्य हैं यह प्रश्न उठ खड़ा होने पर कोई भी प्रबल प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता कि जिससे सिद्ध हो कि अमुक वीर पाण्ड्य ही इसके कर्त्ता हैं । मेरे मन में यह बात आती है कि शायद लोक-विश्रुत स्थानीय बाहुवली प्रतिमा के प्रतिष्ठापक १५ वीं शताब्दी के वीर पाण्ड्य भैररस ओडेय ही इस निघण्टु के निर्माता हों । क्योंकि इन्हीं की शताब्दी में देवचन्द्र, कल्याणकीर्त्ति, नागचन्द्र, और ललितकीर्त्ति आदि संस्कृत के उद्भट विद्वान् हो गये हैं । “भास्कर” भाग १ किरण ४ में प्रकाशित श्रीशुभचन्द्राचार्य की पट्टावली में वर्णित ज्ञान-भूषण, विजयकीर्त्ति, आचार्य शुभचन्द्र एवं वादिभूषण इनका भी तौलव देश से सम्बन्ध सिद्ध होता है । संभव है कि इन आचार्यों का सम्बन्ध कार्कल पाण्ड्य दरबार में ही रहा हो । विद्वानों के सम्पर्क से यह भी संभव है कि वीर पाण्ड्य संस्कृत सीख कर संस्कृत कविता करना जान गये हों और इसी का फल-स्वरूप यह क्रिया-निघण्टु हो ।

अब विज्ञ पाठकों के समक्ष क्रिया-निघण्टु के कुछ उद्धरण दिये जाते हैं :—

प्रारम्भिक-भाग—

धातु-प्रयोगपर्यायाः केचित्काव्योपयोगिनः ।

वीरपाण्ड्यक्षितीशेन वक्ष्यन्ते शिञ्चितुं शिशून् ॥१॥

विद्यतेऽस्ति भवत्यत्र स्यादस्तु स्याद्भवेदपि ।

भूयाद्भवतु भवताद्विद्यतां श्रीजगत्त्रये ॥२॥

सम्पद्यते जायते च जनयत्युत्पद्यते जगत् ।

सम्भवत्याविर्भवति प्रादुर्भति सर्वदा ॥३॥

तिष्ठत्यास्ते वर्तते च व्रसत्यत्र गृहे रमा ।

प्राणिमिति श्वसिति श्रेयान् परार्थाय च जीवति ॥४॥

रचयति करोति कुरुते विदधाति विवर्तमादधात्यार्यः ।

सम्पादयति तथासावादत्ते सज्जते सौख्यम् ॥५॥

* देखें “प्रशस्ति-संग्रह” पृष्ठ ३४

† देखें “प्रशस्ति-संग्रह” पृष्ठ १६—१८

उत्पादयति च सृजते निर्वर्तयतीह साधयत्याशु ।
 राघ्नोति च साघ्नोत्यथाराध्यति च सद्यते (?) प्रीतिः ॥६॥
 प्रसूयति प्रसूते च सुवत्यथ सवत्यपि ।
 प्रसवत्यमलं पुत्रं या सा पुण्यवती सती ॥७॥
 × × × ×

मध्यभाग—

प्रतिषिध्यति वारयति प्रतिषेधति तन्निराकरोत्यल्पान् ।
 प्रत्याविशति च दोषान् प्रत्याचष्टे निषेधति प्राज्ञः ॥४५॥
 स्तम्भनाति स्तम्भते चैव स्तुम्भोति स्तोभते तथा ।
 स्तुम्भनाति प्रतिबध्नाति स्तुम्भोति स्तर्विति (?) तथा ॥४६॥
 स्कुम्भनाति च विशत्येषु स्कुम्भोति क्नुवते रिपून् ।
 स्कम्भोति स्कुम्भुते स्कूते सभास्थल्यर्थवाचकाः ॥४७॥
 सहते मृष्यति मर्षति तितिद्धते मृष्यते तथा ।
 मृषति मर्षयति क्षाम्यति क्षमते मृषयत्यसौ सहति ॥४८॥
 × × × ×

अन्तिम भाग—

स्निह्यति तुष्यति तुषति हृष्यति हृष्टे च मोदते कान्ते ।
 पश्यति माद्यति कर्वति खर्वति सा क्षीवते च गर्वति ॥७९॥
 विचिनोत्यवेक्षते सा वस्तिग्यति मृगयते च गवेष्यति ।
 अन्विष्यते च मार्गं मार्गयति च चिनोति ह्यथ दोषान् ॥८०॥
 आकात्याह्वयति चापि स्वमामन्त्रयते प्रियम् ।
 अथ पर्यायनियुक्तेऽसावनयुक्ते स पृच्छति ॥८१॥
 × × × ×
 × × × ×
 परिवस्यति परिचरति च परियजते सेवते भजति ।
 शुश्रूषते च भजते श्रयते चाराधयत्युपास्ते च ॥
 प्रसादयति देवेशं तथोपचरति स्फुटम् ।
 परियजति तीर्थं धीमान् प्रायेणैकार्थवाचकाः ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से पाठकों को यह बात विदित हो गयी होगी कि यह कृति विशेष

महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि समानार्थवाचिकी क्रियाओं की योजना करने में कई जगह छन्दों में भी शिथिलता आ गयी है; पर हाँ यह एक संस्कृत साहित्य-प्रेमी राजा की रचना है; अतः इनका प्रयत्न स्तुत्य है। अब तक के अन्वेषण से जैन राजाओं में अमोघवर्ष, चावुण्ड राय, पाण्ड्यक्षमापति, ॐ देवराज † ये ही संस्कृत के प्रणेता प्रमाणित हुए हैं। अब इस वीर पाण्ड्य राजा को पाँचवाँ संस्कृत साहित्यिक विद्वान् मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी। टूटी फूटी ही सही—संस्कृत कविता बनाने के लिये संस्कृत भाषा का अन्तःपात होना परमावश्यक है। दूसरी बात यह है कि जब तक किसी अमुद्रित पुस्तक की दो चार प्रतियाँ नहीं उपलब्ध होंगी तब तक एकमात्र प्रति से विशुद्ध रूप का पता लगाना नितान्त असम्भव है। असंस्कृतज्ञ एवं अनुत्तरदायी लेखकों की कृपा से भी बड़े बड़े उद्भट विद्वानों की अनेक कृतियाँ आज अक्षय्य अशुद्धियों का शिकार बन रही हैं यह बात साहित्यिक विद्वानों से छिपी नहीं है।

* देखें “प्रशस्ति-संग्रह” पृष्ठ ३४

† देखें “भास्कर” भाग ३ किरण १, पृष्ठ २३



जैनशिलालेख-विवरण

(श्रीयुत प्रोफेसर गिरनोट)



उपर्युक्त शीर्षक के गत भास्कर भाग ३ किरण १ के लेख में ३१ नं० तक शिलालेखों का उल्लेख किया जा चुका है। आगे इस प्रकार है :—

३२ भैरव द्वितीय का कार्कल लेख—सं० कृष्ण शास्त्री। भाषा संस्कृत-कन्नड, लिपि कन्नड।

शक १५०८ कार्कल में संतार वंशी भैरव द्वि० द्वारा चतुर्मुखबस्ति बनने तथा देशीगण के ललितकीर्ति का उल्लेख है। (Ibid No. 10)

३३ कोडगु के लेख (Coorg Inscriptions)—सं० लुई राइस—इनसे कोडगु में प्राचीन काल में जैन धर्म का होना और होय्सल राजाओं का जैनी होना प्रकट है। मडिकेरी (नं० १ सन् ४६६) के लेख से प्रकट है गंगवंशी अविनीत ने जैन मंदिर के लिये बदगोगुप्पे नामक गांव देशीगण कुन्दकुन्दान्वय के भट्टारक वन्दनन्दि (?) को प्रदान किया। विलिऊरु (नं० २ सन् ८८७) के लेख में है कि गंगवंशी सत्यवाक्य परमानन्दी (?) ने शिवनन्द के शिष्य सर्वनन्दि को दान दिया। पेगूरु (नं० ४ सन् ९७७) के लेख से ज्ञात होता है कि रक्स गंग ने पेगूरु के जैन मन्दिर को दान दिया था। अंजनगिरि (नं० १० सन् १५४४) से एक मन्दिर का बनना प्रकट है। (Epigraphia Carnatica, Vol. I. 1886)

३४ श्रवणबेलगोल के शिलालेख—सं० लुई राइस। हिन्दी में यह सब प्रो० हीरालाल जी द्वारा माणिकचंद्र जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके हैं।

(Epi, Car. vol II)

३५ मैसूरु जिले के शिलालेख—सं० लुई राइस भा० १ रामेश्वर के मन्दिर में जैन ढङ्ग का भास्करकार्य है। (भूमिका पृ० ३५)। लेख निम्न प्रकार हैं :—

जिला	नं०	समय	उद्देश्य
मैसूरु	६	७५० ई०	गोवपय्य जैन का स्मारक है।
”	२५	७५० ई०	किसी दान का उल्लेख है।
”	४०	९८० ई०	स्मारक।
श्रीरङ्गपट्टम्	१४४	१३८३ ई०	सकलचंद्र शिष्य वासुपूज्य दिगम्बर काणूर-गण तिन्तिणीगच्छ कंदकुन्दान्वय का उल्लेख है।

जिला	नं०	समय	उद्देश्य
श्रीरङ्गपट्टम्	१४७	९०० (करीब)	} श्रवण बेलगोल के कलवप्पु (कटवप्प) पर्वत पर } भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के ठहरने का उल्लेख करते हैं।
"	१४८	९०४ (?)	
मण्ड्य	५०	११३०	श्रीमल्लिनाथ मन्दिर बनने तथा देशीगण पुस्तक-गच्छ को दान देने का उल्लेख।
मलवल्ली	३०	९०९	दान।
"	३१	१११७	काणूरगण तित्तिणीगच्छ के आचार्य मेघचन्द्र को दान देने का उल्लेख है।
"	४८	१६९९	आदिनाथ पंडित देव आदि का उल्लेख है।
तिरुमकुडलुनरसीपुर	१०५	११८३	नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वय का मुख्य लेख है।
नन्जनगुडु	४३	१३७१	मेघचन्द्र व माणिक देव का उल्लेख है।
"	६४	१३७२	पुस्तकगच्छ के श्रुत मुनि और उनके शिष्यों का उल्लेख है।
"	१३३	११७०	अरुङ्गलान्वय के अजित सेनाचार्य का उल्लेख है।

३१ मैसूरु जिला के शिला-लेख भा० २—पृष्ठ ४ पर "बृहत्कथाकोष" जो सन् ९३१ ई० में हरिषेण-द्वारा रची गई थी, उसके आधार पर उल्लेख है कि भद्रबाहु संघसहित मैसूरु प्रदेश के पुन्नाट प्रान्त में आकर ठहरे थे। पृष्ठ ७ पर है कि जैनाचार्य सिंहनान्दि ने मैसूरु के गङ्गावंश की स्थापना की थी। पृष्ठ १६ पर है कि प्राचीन चङ्गालुव अथवा चङ्गालुव वंश के राजा जैन धर्मानुयायी थे। पनसोगे के चार मन्दिर दिगम्बरीय पुस्तकगच्छ के हैं। पृष्ठ १९ पर है कि विष्णुवर्द्धन ने जैन मन्दिरों का उद्धार किया था। पृष्ठ २४ पर है कि मेलुकोटे प्राचीन जैनकेन्द्र है—उसे वर्द्धमान क्षेत्र कहते थे।

जैनों से सम्बन्धित शिलालेख निम्न प्रकार है:—

जिला	नं०	समय ई०	विषय
चामराजनगर	८३	१११७	मन्दिर बनने व उसको दान मिलने का उल्लेख है।
"	१४६	१८१३ (?)	मलेयूरु देशीगण पुस्तकगच्छ के श्रीभट्टाकलङ्क की प्रशंसा है।

ज़िला	नं०	समय	उद्देश्य
चामराजनगर	१४८	१५१८ (?)	कालोप्रगण आदिदास के शिष्य मुनिचंद्र का स्मारक ।
"	१४९	१६७४	विजयपैय्य द्वारा लक्ष्मीसेन मुनीश्वर का स्मारक ।
"	१५०	१८१३	देशीगण के श्रीभट्टाकलङ्क का उल्लेख है ।
"	१५१	१४००	देशीगण पुस्तकगच्छीय शुभचंद्र के शिष्य चन्द्रकीर्ति-द्वारा श्रीचन्द्रप्रभ की प्रतिमा स्थापित हुई ।
"	१५३	१३५५	पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वयी हेमचन्द्र-कीर्ति के आदिदेव-द्वारा विजयदेव की मूर्ति बनने का उल्लेख है ।
"	१५६	१६३० (?)	विविध-मूर्ति-निर्माण-उल्लेख ।
"	१५७	१३८० (?)	बाहुबलि पंडितदेव और नयकीर्तिव्रती का उल्लेख है ।
"	१६१	१५१८ (?)	नं० १४८ का विषय है ।
गुण्डलुपेटे	१८	१८२८ (?)	राजकुमार कृष्णराज ने चन्द्रप्रभ स्वामी की एक प्रतिमा निर्माण की ।
"	२७	११९६	नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वय के दान का उल्लेख है ।
"	९६		अस्पष्ट ।
एडतारे	२१	१०२५ (?)	पुस्तकगच्छ देशीगण के मन्दिर का उल्लेख ।
"	२२	१०६० (?)	पुस्तकगच्छ के मन्दिर बनने का उल्लेख ।
"	२३	१०८० (?)	पनसोगे के मन्दिरों तथा देशीगण पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वय के दामनन्दि भट्टा० और दिवाकर नन्दिसिद्धान्त देव का उल्लेख है ।
"	२४	१०९९	कुन्दकुन्दान्वयी पूर्णचंद्र की पट्टावली ।
"	२६	११०० (?)	देशीगण के मन्दिर बनने व दान देने का उल्लेख ।
"	२७		नं० २३ के अनुरूप ।
"	२८	११०० (?)	पुस्तकगच्छ के श्रीधरदेव की पट्टावली ।
"	३६	१८७८	शिलाग्राम में एक जैन मन्दिर बनने व उसे दान दिये जाने का उल्लेख है ।

ज़िला	नं०	समय	उद्देश्य
हेगाडदेवनकोटे	१	१४२४	एक ग्राम का दान ।
"	५१	१८२९	दान का उल्लेख ।
हुन्सूरु	१४	१३०३	होनेयन हल्लि के मन्दिर तथा देशीगण पुस्तक- गच्छ कुन्दकुन्द० के बाहुवलि मलधारि देव और उनके शिष्य पद्मनन्दि का उल्लेख है ।
"	१२३	१३८४	श्रुतगण के आदिदेव मुनि ने अपने गुरु श्रुतकीर्ति देव का स्मारक बनवाया ।
कृष्णराजपेटे	३	११२५	विष्णुवर्द्धन ने एक मन्दिर बनाकर पुस्तक गच्छ कुन्दकुन्दान्वय के शुभचंद्र को दान दिया ।
नागमंगल	१९	१११८ (?)	सूरस्थगण की पट्टावली ।
"	२०	११६७	विन्डिगनत्रिले(?) के मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ ।
"	२१	११३० (?)	पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वयी प्रभाचंद्र के शिष्यों का स्मारक ।
"	३२	११८४	मन्दिरों के बनने और देशीगण के देवकीर्ति के शिष्य देवचन्द्र को दान दिये जाने का उल्लेख है ।
"	४३	१६८०	लक्ष्मीसेन भट्टारक ने कुछ बनवाया ।
"	७०	११७८	होय्सलवंशी वीर बल्लाल द्वितीय ने पार्श्वनाथ जिन का मन्दिर बनवाया । कुन्दकुन्दान्वयी गुणचंद्र व दामनन्दि त्रैविद्य का उल्लेख है ।
"	७६	११४५	कुन्दकुन्दान्वय के आचार्यों की नामावली है ।
"	९४	११४२	पार्श्व जिनका मन्दिर बना ।
"	१००	११४५	विविध जैनाचार्यों का उल्लेख ।
"	१०३	११२०	द्राविड़ संघ के आचार्यों की नामावली ।

३७ हासन ज़िले के शिला-लेख—(Ep. Car., V) लुई राइस (मंगलूरु १९०२) भूमिका में (XLII) वस्तिहल्लि व हलेबीडु के पार्श्वनाथ मन्दिर (११३३) और शांतिनाथ मन्दिर (११९२) का उल्लेख है । जैन शिलालेख निम्नलिखित हैं :—

हासन ५७ ११५५ ई० कुन्दकुन्दान्वयी नयकीर्ति के शिष्य और नरसिंह

प्रथम (होय्सल) के सेनापति व मंत्री चाविमय्य के भूमिदान का उल्लेख है।

”	११९	११७३	वीर बल्लाल द्वितीय के मंत्री वूचिमय्य के मन्दिर-निर्माण और द्रविल-संघ अरुङ्गलान्वयी श्रीपाद के शिष्य वासुपूज्य को ग्राम दान देनेका उल्लेख है।
”	१३०	११४७ (?)	नरसिंह प्रथम का दान।
”	१३१	१११७ (?)	नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वयी वासुपूज्य के शिष्य पुष्प-सेन का उल्लेख।
बेल्लूरु	९	११२० (?)	विष्णुवर्द्धन के सम्बन्ध में अधूरा लेख है।
”	१७	११३६	द्रविल-संघ की पट्टावली।
”	१२४	११३३	जैन-धर्म-प्रभावक दण्डनायक गङ्गराज की प्रशंसा पुत्र वोष्पने एक मन्दिर स्मृति में बनवा कर नेमिचंद्र के शिष्य नयकीर्ति से प्रतिष्ठा कराई।(?)
”	१२८	१६३६	विविध दान।
”	१२९	११९२ (?)	शान्तिनाथ मन्दिर व देशीगण वक्रगच्छ के बालचन्द्र का उल्लेख।
”	१३१	१२७४	बालचन्द्र की प्रशंसा।
”	१३२	१२७४ (?)	”
”	१३३	१२७९	बालचंद्र के शिष्य अभयचन्द्र की प्रशंसा।
”	१३४	१३००	बालचन्द्र के प्रशिष्य रामचंद्र मलधारी की प्रशंसा।
”	१३९	१२५५ (?)	एक मन्दिर का उल्लेख।
”	२३५	१०६० (?)	द्रविल-संघ को दान।
अरसिकेरे	१	११६९	श्रीपाल के शिष्य वासुपूज्य से नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वयी की पट्टावली और एक पार्श्वनाथ-मन्दिर बनने तथा वासुपूज्य शिष्य पुष्पसेन के दान का उल्लेख।
	३		कुन्दकुन्दान्वय के आचार्य का स्मारक।
”	७७	१२२०	वीर बल्लाल द्वि० ने अरसिकेरे में मन्दिर बनवाया।
”	१४१	११५९	मल्लिषेण मलधारी के शिष्य प्रसिद्ध न्यायवादी श्रीपाल की पट्टावली।

चन्नरायपट्टण	१४६	११७४	पार्श्वनाथ-मन्दिर के लिये वीर बल्लाल द्वि० ने कुन्द-कुन्दान्वयी भानुकीर्ति के शिष्य नयकीर्ति को दान दिया ।
„	१४८	१०९४	होय्सलराज एरेयङ्ग ने आचार्य गोपनन्दि को दान दिया ।
„	१४९	११२५	विष्णुवर्द्धन ने श्रीपाल को दान दिया ।
„	१५०	११८२	पार्श्वनाथ-मन्दिर बनाने के लिए वीर बल्लाल द्वि० ने नयकीर्ति को दान दिया ।
„	१५१	१२००	विविध दान ।
„	१९८	११३०	„
„	२४८	११३४	बेल्लोल में गङ्गराज ने मन्दिर बनाये ।
होलेनरसीपुर	१६	१०८०	भूमिदान ।
अरकलगूडु	१२	१२४८	होय्सल सोमेश्वर के विभिन्न दान और शान्तिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार
„	९६	१०९५	अस्पष्ट लेख ।
„	९७	१०९५	मन्दिर-निर्माण ।
„	९८	१०६० (?)	नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वय के गुणसेन की प्रशंसा ।
„	९९	१०७९	एक मन्दिर निर्माण व दान । प्रभाचंद्र का उल्लेख ।
मन्जरावाद	६७	९७०	धातु की एक जिन-प्रतिमा के आसन का लेख जैन धर्म के प्राचीन इतिहास का द्योतक । प्रतिलिपि चित्र नं० ११ ।

३८ कडूरु जिला के शिलालेख (Ep car. VI) लुई राइस (बेङ्गलूरु १९०१)

भूमिका-पृष्ठ १० मैसूर के सांतर राजा जैनी थे ।

„ „ १९ कार्कल के राजा भी संभवतः जैनी थे ।

„ „ २१ बुचनन सा० तुलु देश के भैररस, उनका जैनधर्म तथा विजयनगर राजवंश के उत्तराधिकारी जैनी होने विषयक मत ।

„ „ २८ सोसेवूर-अङ्गडि के जैनमंदिरों के भास्कर-कार्य पर प्रशंसात्मक नोट ।

जैन शिलालेख ये हैं :—

कडूरु १ ९७१ ई० देशीगण कुन्द० के एक साधु का स्मारक ।

कहूरु	३६	१२०३	वीर बल्लाल द्वि० ने शान्तिनाथ का मंदिर बनवाया ।
"	६९	११६०	मंदिर-निर्माण ।
"	१७४-१८१		जैन उपासकों का स्मारक ।
चिक्कमंगजूरु	२	१२८०	पुस्तकगच्छ कुंद० के साधु का स्मारक ।
"	७५	१०६०	देवगण पाषाण अन्वय के एक शिष्य को दान तथा मंदिर-निर्माण का उल्लेख ।
"	१६०	११०३	विष्णुवर्द्धन के जैन मंत्री मरियाने व भरतेश्वर की प्रशंसा ।
"	१६१	११३७	उक्त मंत्रियों से सम्बन्धित लेख ।
मूड़गेरे	१०	११०० (?)	समाधि-लेख ।
"	१२	११७२	होन्नङ्गि के मंदिर को दान ।
"	१७	१०६२	समाधि-लेख ।
"	१८	१०४०	रविकीर्ति का समाधिलेख ।
"	२२	११२९	पुस्तकगच्छ कुंद० के साधु को दान व मंदिरनिर्माण ।
"	६७	१२७७	जैनों व शैवों के दान का संयुक्त लेख ।
कोप्प	३	१०९० (?)	सांतरकुमार मार व अजितसेन का उल्लेख ।
"	४७	१५३०	कार्कल की एक राजकुमारी-द्वारा जैन मन्दिर को दान ।
"	५०	१५९८	कोप्प के जैनमन्दिर को दान ।

(क्रमशः)

अनु०—श्रीयुत वावू कामता प्रसाद जैन

नोट—अंग्रेजी से अनुवाद होने एवं दक्षिण के उन नामों से अपरिचित होने के कारण इस लेख के नामों में जहाँ तहाँ अशुद्धियाँ रह गयी हैं । जो मूल लेख भवन में मौजूद हैं उन्हें तो मैंने यावच्छक्य ठीक कर दिया है परन्तु जिनका मूल लेख नहीं है उनमें मौलिकता की रक्षा के खयाल से हस्तक्षेप करना मैंने उचित नहीं समझा ।

के० बी० शास्त्री

जैन-गोत्र पर एक नजर

(ले० श्रीयुत पं० के० भुजवली शास्त्री)

- १९७७ -

मैं बहुत दिनों से विचार कर रहा था कि भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त की हर एक जैन जाति के गोत्र, सूत्र, प्रवर एवं शाखा आदि का संग्रह एकत्रित हो जाना परमावश्यक है। इससे भी जैन जाति का एक प्रामाणिक विस्तृत इतिहास-प्रणयन करने में सहायता मिलेगी। बल्कि जाति को लेकर जैन समाज में आजकल जो आन्दोलन चल रहा है, इसका भी इस संग्रह से बहुत कुछ समाधान होने की आशा है। मैं अपने इस विचार को भिन्न भिन्न जैन जाति के कई विद्वानों के समक्ष उपस्थित भी कर चुका हूँ। बल्कि कतिपय विद्वान् मित्रों ने अपने प्रान्त की जैन जाति के गोत्र, सूत्रादि का संग्रह कर भेजने का वचन भी दिया है। एक बन्धु ने तो अपनी जाति के गोत्र सूत्रादि संगृहीत कर भास्कर में प्रकाशनार्थ भेजा भी था। परन्तु कई त्रुटियाँ रहने की वजह से उसे प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया। आज से पन्द्रह-सोलह साल की बात है कि जिन दिनों मैसूरु में मैं अध्ययन कर रहा था एक बार मैसूरु राजकीय प्राच्य पुस्तकालय (Oriental Library) में "जैन-गोत्र-प्रवर-निर्णय" नामक एक लघु कलेवर हस्तलिखित पुस्तक देखने का मुझे सुअवसर मिला था। पर इसके कुछ पन्ने उलटने पर इसमें मुझे हिन्दुओं में प्रचलित विश्वामित्र, अत्रि, वसिष्ठ, पराशर, काश्यप, कौण्डिल्य, आङ्गीरस, शाण्डिल्य आदि गोत्र के नाम ही नजर आये। यह देखकर मेरे मन में शंका उठ खड़ी हो गयी। फलस्वरूप मैंने वहाँ के कुछ जैनियों से उनके गोत्र सूत्र पृष्ठना आरम्भ कर दिया। इन लोगों ने जो अपने गोत्र सूत्र बतलाये वे उल्लिखित नामों के ही अन्तर्गत थे। जिन जैन वंशों में उल्लिखित हिन्दूवंश सूचक विश्वामित्र आदि गोत्र सूत्र ही आज भी प्रचलित हैं मानना पड़ेगा कि वे पहले हिन्दू थे, पीछे जैनो हुए। सम्भव है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के ससंघ दक्षिण-यात्रा के उपरान्त जब कुछ शताब्दियों में सम्पूर्ण दक्षिण प्रान्त में जैनियों की विजय-वैजयन्ती फहरा रही थी तब भिन्न भिन्न समय में दीर्घ-तपस्वी दिग्गज विद्वान् जैनाचार्यों के प्रभाव से प्रभावित होकर उच्च वंशीय हिन्दू जैनी बन गये होंगे। उन शताब्दियों में सामान्य हिन्दुओं को कौन कहे स्याद्वादवाचस्पति विद्यानन्द जैसे अनेक प्रगाढ़ हिन्दू विद्वान् भी अपने पूर्व वंश को तिलाञ्जलि देकर जैन-धर्म की पुनीत छत्र-छाया में आ गये थे।

कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का मत है कि भद्रबाहु की दक्षिण-यात्रा के पहले वहाँ जैनियों की सत्ता थी ही नहीं। पर मैं अब इस विचार से सहमत नहीं हूँ। क्योंकि यदि दक्षिण में

जैनियों का नामो निशान नहीं रहता तो इतने बड़े जैन-संघ की उधर यात्रा करने की हिम्मत नहीं पड़ती। बौद्धों के “महावंश” नामक पाली ग्रन्थ से भी यह पता चलता है कि सुप्राचीन काल से ही दक्षिण प्रान्त में जैन-धर्म का अस्तित्व अवश्य था। खैर जिन में अद्यावधि उल्लिखित विश्वामित्र आदि गोत्र सूत्र ही प्रचलित हैं उन कतिपय जैन विद्वानों से इस संबन्ध में जब मैंने इधर अपना विचार उपस्थित किया तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि जैनियों में भी विश्वामित्र वशिष्ठ आदि नाम वाले ऋषि हुए होंगे। यह उत्तर बिल्कुल निराधार है। क्योंकि जैन ग्रन्थों में इन नामों का उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता। तब ऐसी दशा में इन्हें अपना पूर्वज कहना असंगत है। अतः मेरा विचार इस विषय में वही है कि जिन जैनियों में उक्त विश्वामित्र आदि गोत्र सूत्र ही प्रचलित हैं वे पहले हिन्दू थे पीछे इन्होंने जैन धर्म का आश्रय लिया। हिन्दू गोत्र के सम्बन्ध में “हिन्दी विश्वकोष” भाग ६ पृष्ठ ५६१ में एक विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित हुआ है। उसमें विज्ञ सम्पादक ने लिखा है कि “अति प्राचीन काल से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में गोत्र का नियम चला आ रहा है। प्राचीन आर्यशास्त्रों की पर्यालोचना करने से जाना जाता है कि पहले गोत्र का नियम नहीं था। क्रमशः मनुष्य संख्या-वृद्धि होते रहने से, आर्य ऋषियों ने गोत्र नियम बनाये और उसी समय से आर्यों में गोत्र नियम चला आ रहा है।”

“बौधायन, आपस्तम्ब, सत्योपाद्, कुटिल, भारद्वाज, लौगाक्षि, कात्यायन और आश्वलायन आदि के रचे हुए श्रोत्र-सूत्र, मत्स्यपुराण, महाभारत आदि इतिहास और मनु आदि की रची हुई स्मृतियों में थोड़ा बहुत गोत्र का कथन मिलता है। इन में परस्पर कुछ विरुद्ध कथन भी है, जिनका वास्तविक अर्थ सर्वसाधारण की समझ में नहीं आ सकता है। इसलिये और शास्त्रों की आलोचना की शिथिलता देखकर पण्डितप्रवर पुरुषोत्तम ने “गोत्र-प्रवर-मंजरी” नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ लिखा था। इसके सिवा धनंजय कृत धर्मप्रदीप, बालभट्ट और महादेव दैवज्ञ-द्वारा रचित गोत्रप्रवर, विष्णुपण्डित कृत गोत्रप्रदीप, अनन्तदेव, आपदेव, केशव, जीवदेव, नारायण भट्ट, भट्टोजि, माधवाचार्य और विश्वनाथदेव रचित गोत्रप्रवरनिर्णय, लक्ष्ण भट्ट कृत प्रवर-रत्न, और गोत्र-प्रवर-भास्कर तथा कमलाकरकृत गोत्रप्रवरदर्पण नामक कुछ ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनमें से “गोत्र-प्रवर-मंजरी” ही सब से श्रेष्ठ है। इसमें समस्त पुरातन मतों की पर्यालोचना और मीमांसा की गयी है।”

इसके आगे प्रस्तुत वक्तव्य में विश्वकोष सम्पादक ने गोत्र के लक्षण के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख कर समालोचनात्मक दृष्टि से अपना विचार प्रकट किया है। साथ ही साथ इस विषय पर भी प्रकाश डाला है कि गोत्र कितने हैं, प्राचीन मुनि एवं ऋषियों में से किन किन के नाम से गोत्र प्रचलित हैं। बल्कि अन्यान्य ग्रन्थों का

आश्रय लेकर गोत्रों की कई तालिकायें भी दी गयी हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि विश्वामित्र आदि गोत्र प्रवर्तक ऋषियों के पहले हिन्दुओं में गोत्र की प्रथा ही नहीं थी। बल्कि जिनके नाम से गोत्र प्रचलित हुए हैं वे सब के सब ब्राह्मण ऋषि थे। ऐसी दशा में क्षत्रिय और वैश्यों में जो गोत्र हैं वे इनके पूर्वजों से न होकर इनके पुरोहितों के पूर्वजों के नाम से ही चल पड़े हैं। यह तो हुई हिन्दुओं के गोत्रों की बात। दि० जैन शास्त्रों में ऐसा पाया जाता है कि, प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने जाति आदि के नियम चलाये थे। (आदि-पुराण)॥ बल्कि मंत्री श्री ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवन मुम्बई-द्वारा संग्रहीत “चौबीस तीर्थंकरों की ज्ञातव्य बातों का नकशा” में ऋषभ देव एवं नेमिनाथ जी को छोड़ कर शेष सब का काश्यप गोत्र ही लिखा मिलता है। हां, इनका वंश इक्ष्वाकु, कुरु, सोम, हरि, उग्र तथा नाथ इनमें से अन्यतम बतलाया है। पर मल्लिनाथ जी का सोम, इक्ष्वाकु दोनों लिखा है। श्वेताम्बर जैनाचार्य विजयराजेन्द्र सूरि के द्वारा संपादित “अभिधानराजेन्द्र” नामक बृहत् प्राकृत कोष के पृष्ठ ९५४ में दिये हुए उद्धरणों से भी ज्ञात होता है कि तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों में काश्यप, गौतम, वत्स कौशिक, वशिष्ठादि गोत्र ही प्रचलित थे। सुना है कि इधर हीरालाल हंसराज जी “जैनगोत्र संग्रह” नाम से श्वेताम्बर जैन गोत्रों का एक संग्रह एकत्रित किया है। किन्तु वह अभी तक मेरे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। उत्तर भारत के भी कई जैन जाति के बन्धुओं से मुझे उनके गोत्र पूछने का अवसर प्राप्त हुआ है किन्तु उनके गोत्रों के नाम और ही विलक्षण हैं।

अस्तु भास्कर की इसी किरण में अन्यत्र मित्रवर प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये एम. ए. का इसी गोत्र के सम्बन्ध में एक गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। सभी प्रान्त के जैनी भाइयों से मेरा भी अनुरोध है कि वे अपने प्रान्त के गोत्र सूत्र संगृहीत कर भास्कर में प्रकाशनार्थ अवश्य भेजें। इससे गोत्र-सम्बन्धिनी एक जटिल समस्या का सुलभना संभव है।

॥ देखें “विश्वकोष” भाग ६, पृष्ठ ५६१।



जैनपादपूर्ति-काव्य-साहित्य

(ले० श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा)

(क्रमागत)

४ नेमिभक्तामर—

पूर्णिमागच्छी भाव-प्रभसूरिजी ने ४४ श्लोकों में नेमिनाथ जी की स्तुति में इसे रचा है। स्वोपज्ञ टीका और गुजराती भाषान्तर-सहित काव्य-संग्रह भाग १ में प्रकाशित हो चुका है।

५ दादापार्श्वभक्तामर—

पद्मसागर के शिष्य राजसुन्दर ने भक्तामर के प्रथम पाद को चतुर्थचरण के स्थान में योजित कर बड़ोदग के दादा पार्श्वप्रभु की स्तुति में ४५ श्लोकों में रचा है। अद्यावधि अप्रकाशित है।

६ पार्श्वभक्तामर—

खरतरगच्छीय उ० विनय प्रमोद जी के शिष्य विनयलाभ जी* ने पार्श्वप्रभु की स्तुति-मय ४५ श्लोकों में इसे रचा है। यह भी गु० भाषान्तर-सहित काव्यसंग्रह भाग २ में प्रकाशित हो चुका है।

७ वीरभक्तामर—

खरतरगच्छीय महोपाध्याय धर्मवर्द्धन जी ने सं० १७३६ वेनातट में वीरप्रभु के चरित्र-वर्णनात्मक ४५ श्लोकों में यह काव्य रचा है, काव्य की दृष्टि से यह बड़ा ही मनोहर है। स्वोपज्ञ टीका और गु० भाषान्तर-सहित काव्यसंग्रह भाग १ में प्रकाशित है।

८ जिनभक्तामर—

एक अज्ञात कवि के द्वारा रचित भक्तामर के चतुर्थ-पादपूर्तिमय उपलब्ध है। अप्रकाशित है।†

* देखें युगप्रधान-जिनचन्द्र-सूरि पृष्ठ १८६।

† भक्तामर-पादपूर्ति-काव्य-संग्रह, भाग १-२ में इसका उल्लेख है और प्रकाशित काव्यों के कवियों का परिचय भी उपर्युक्त ग्रंथों में दिया गया है। विनयलाभ और धर्मसिंह का परिचय उनमें नहीं दिया गया है अतः मैं ने संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया है।

६ सरस्वतीभक्तामर—

मुनि खेमकर्ण शि० धर्मसिंह† ने सरस्वती देवी की स्तुति में अन्यपादपूर्तिमय ४४ श्लोकों में इसे रचा है। स्वोपज्ञ टीका और गु० भाषान्तर-सहित काव्य-संग्रह भाग २ में प्रकाशित है।

उपर्युक्त सभी काव्य प्रायः १७ के उत्तरार्द्ध और १८ वीं के पूर्वार्द्ध में रचे गये हैं और ८ जिनस्तुति, ६ वां सरस्वती की स्तुति में रचित है। पर २० वीं शताब्दी में भी भक्तामर के पादपूर्तिमय ५ काव्य रचे गये हैं जो सारे गुरु-स्तुति-रूप में है उनका संक्षिप्त परिचय यह है—

१० आत्मभक्तामर—

सुप्रसिद्ध तपागच्छाचार्य आत्मरामजी (विजयानन्दसूरि) की स्तुति में प्रख्यात पं० हीरालाल हंसराज (जामनगर वाले) ने रचा है और प्रकाशित हो चुका है।

११ श्रीसूरीन्द्रभक्तामर—

विद्वद्गुरु अमरविजय जी के शिष्य रत्नचतुरविजय जी ने ४५ श्लोकों में रचा है। जैनस्तोत्रसंदाह भाग २ में यह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

१२ श्रीवल्लभभक्तामर—

विद्यमान तपागच्छाचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि के शिष्य विचक्षणविजय जी ने अपने गुरुवर्य की भक्ति या स्तुति में इसकी रचना की है। आदर्शजीवन नामक ग्रन्थ में यह प्रकाशित हो चुका है।

१३ कालूभक्तामर—

श्वेताम्बर तेरापंथ संप्रदाय के कानमल्ल स्वामी ने अपने गुरु (विद्यमान आचार्य) कालूराम जी के गुणानुवाद में भक्तामर स्तोत्र के द्वितीय चरण को चतुर्थ पाद का स्थान देकर ४७ श्लोकों में १६८५ आश्विनपूर्णिमा को छपर (बिकानेर राज्यान्तर्गत) ग्राम में रचा है। हिन्दी भाषानुवाद-सहित जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, कलकत्ता-द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

१४ कालुभक्तामर—

तेरापंथी संप्रदाय के सोहनलाल स्वामी ने इसे भी कालूराम जी की स्तुति में रचा है। यह भी उक्त सभा-द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

१५ जिनस्तुति—

भक्तामर के प्रथम श्लोक के चारो चरणों को ४ श्लोको में प्रथम पादको प्रथम

† आपलों का गच्छ के थे। देखें ऐतिहासिक नोट (बा० मो० शाह-लिखित) में पंजाबकी पढ़ावली।

श्लोक के प्रथम पाद में द्वितीय को द्वितीय श्लोक के द्वितीय पाद में इस प्रकार अनुक्रम से निर्नामक कवि ने रचा है। जैनस्तोत्र-संग्रह भाग २ (प्र० यशो० वि० प्र०) में प्रकाशित है।

१६ अष्टमचैत्यवन्दन—(अप्राप्त)

ज्ञानविमलसूरि (१८वीं शताब्दी) के शत्रुञ्जय पर चैत्यवन्दन रूप (भक्तामर-पाद-पूति) बनाने का उल्लेख कनकावमलजी-लिखित “ज्ञान विमल सूरिस्वर नुं आदर्श जीवनचरित्र” नामक ग्रन्थ में है।

१७ नवकलोलपार्श्वभक्तामर—

इस नाम का भी भक्तामर पादपूतिकार्य होने को कहा जाता है। देखें जैनधर्म पर स्तोत्र की प्रस्तावना में। भक्तामर के समस्यापूति काव्यों की तरह कल्याण-मंदिर के पादपूति काव्य परिमाण में प्रचुर उपलब्ध नहीं है; जो प्राप्त हैं उनका परिचय निम्नोक्त है:—

१ जैनधर्मवरस्तोत्र—

नेमिभक्तामर के कर्त्ता श्रीभावप्रभसूरि जी ने कल्याणमंदिर के चतुर्थचरणा पादपूतिमय (श्लोक ४५) यह काव्य सं० १७८१ मार्गशीर्ष शुक्ला ८ को स्वोपज्ञ वृत्ति-सहित बनाया है। और देवचंद लाला भाई पुस्तकोद्धार फण्ड के ८४ वें ग्रन्थांक में प्रकाशित हो चुका है।

२ पार्श्वनाथस्तोत्र—

लौबडी भंडार सूचीपत्र के पृष्ठ ६४ में कल्याण-मंदिर-पादपूति-रूप इस स्तोत्र का (क्रमांक १६१३) उल्लेख है।

३-४ श्रीकान्तिविजयगणि-कृत—

(ओष्ठि प्रेमचन्द रतन जी भंडार में होने का विजयधर्मसूरि-संकलित प्रशस्ति-संग्रह में उल्लेख है पर मिला नहीं) और प्रेमजी मुनिकृत (प्रवर्त्तक श्रीकान्ति

॥ इस स्तोत्र के कतिपय टोकाकारों के नाम इस प्रकार हैं:—

श्वे० १ कनककुशल (१६१२) २ माणिक्यचन्द्र मुनिचन्द्र ३ हर्षकीर्त्ति ४ भानुचन्द्र ५ रत्नचन्द्र ६ समयसुन्दर ७ हेमविजय ८ विनयसागर ९ जिनविजय १० देवतिलक (उपदेशगच्छीय) ११ गुणसागर १२ गुणसेन (रत्न !) १३ चरित्रवर्द्धन।

(“दि० जैनग्रन्थकर्त्ता” ग्रन्थ में देवतिलक के नाम हैं पर ये श्वे० ही ज्ञात होते हैं)।

† जैन ग्रंथावली पृ० २७५ में “अभिनव कल्याणमंदिर” का उल्लेख है; संभवतः वह भी कल्याणमंदिर की पादपूति हो।

विजय जी के संग्रह में) इन दोनों का उल्लेख हीरा लाल रसिक लाल कापडिये ने जैनधर्मवर-स्तोत्र की प्रस्तावना में किया है।

५ श्रीविजयानन्दसूरीश्वरस्तवनम्—

चतुरविजय जी-रचित, आत्मानन्द शताब्दी-स्मारक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है।

६ वीरस्तुति—

कल्याणमंदिर के प्रथम श्लोक के ४ पादों को ४ श्लोकों में भक्तामर की भांति निर्नामक कवि ने रचा है।

७ वीरजिनस्तुति—

यह भी उपर्युक्त वीरस्तुति के सदृश ४ श्लोकों में है।

उवसग्गहर स्तोत्र की पादपूर्ति

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उवसग्गहर-स्तोत्र बड़ा प्रभाविक स्तोत्र माना जाता है और उसके रचयिता भद्रबाहु स्वामी कहे जाते हैं। उक्त स्तोत्र के सम्पूर्ण पादपूर्तिरूप पार्श्व-स्तोत्र श्रीदेवचन्द लाल भाई पु० फगड के ग्रन्थाङ्क ८० के पृष्ठ ४५-४८ में मुद्रित है।

स्तुतियाँ

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रतिक्रमणादि में ४ श्लोकों की स्तुतियाँ बोली जाती हैं, जिनके प्रथम श्लोक में किसी तीर्थंकर की, द्वितीय में सामान्यतः जिनों की, तृतीय श्लोक में अतज्ञान और चतुर्थ में श्रुतदेवता, शासनदेवी की स्तुति की जाती है। ऐसी स्तुतियों की संख्या सैकड़ों की संख्या में है, उनमें से कई स्तुतियाँ जो विशेष प्रसिद्ध हैं उनकी निम्नोक्त पादपूर्तिमयी स्तुतियाँ प्रकाशित हैं:—

संसारदावा(?)स्तुति के पादपूर्तिस्तवन-स्तुतियाँ—

- १ ऋषभस्तवन—उक्त स्तुति के ४ श्लोकों के १६ चरणों की पादपूर्तिमय यह स्तवन खरतरगच्छीय युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि जी के शिष्य सुमतिकल्लोल ने सं० १६७५ में १७ गाथाओं में रचा है।
- २ (मंडपाचलमंडण) पार्वजिनस्तवन - उपर्युक्त स्तवन की भांति खर० सिद्धान्त-कवि महोपाध्याय* ने समस्त पादों की पूर्तिमय यह स्तवन (गा० १७) बनाया है। प्रकाशित ग्रन्थ में एवं जिन्होंने इस स्तोत्र का उल्लेख किया है उन्होंने निर्नामक लिखा है पर मेरे संग्रह की प्रति में कर्त्ता का नाम स्पष्ट लिखा है।

* देखें विश्वसि-त्रिवेणी पृ० ६६।

मूलमात्र उपर्युक्त दोनों काव्य जैनस्तोत्र-संग्रह भाग १, (पृष्ठ ६५-६६) में छप चुके हैं।

३ देखें परिशिष्ट।

४ वीरजिनस्तुति :—संसार दावास्तुति के प्रथम गाथा के ४ चरणों की पूर्तिमय है। यह स्तुति जैन-स्तोत्र-संग्रह के द्वितीय भाग में मुद्रित है।

५ प्रत्येकपादपूर्ति रूप काव्य मांडवगढ़ का मन्त्री अथवा पेथड कुमार का परिचय नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

पादपूर्तिमय अन्य स्तुतियाँ—

१ “सकलकुशलबालि” के समस्तपादपूर्तिरूप शांतिजिन-स्तुति।

२ “श्रेयः श्रियां मङ्गलकेलिसन्न” के समग्रपादपूर्तिमय पार्श्वजिनस्तुति।

३ “स्नातस्यां” के सम्पूर्णतः पादपूर्तिरूप वीरजिनस्तुति।

४ “श्रीनेमिपञ्चरूप” इत्यादि ज्ञानपंचम स्तोत्र के चौथे चरणा की पादपूर्तिरूप ज्ञानपंचमी स्तुति।

ये चारों पादपूर्तिरूप स्तुतियाँ जैनस्तोत्र-संग्रह भाग में मुद्रित हैं।

५ कल्याणकंद स्तुति के पादपूर्तिरूप काव्य (श्रीचतुरविजयजी-रचित) आत्म कांति प्रकाश ग्रन्थ के पृष्ठ ११०-११२ में देखना चाहिये।

जैनेतरकाव्यों की पादपूर्तियों की भांति अन्य भी जैनेतर स्तोत्रादि के पादपूर्तिमय कई लघुस्तोत्र श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध हैं वे ये हैं :—

१ ऋषभमहिम्न* स्तोत्र—

शिष्यमहिम्न† स्तोत्र के पादपूर्ति में रत्नशेखर सूरि ने इसकी रचना की है।

“जैनस्तोत्र तथा स्तवन-संग्रह अर्थ-सहित” नामक ग्रन्थ में सन् १९०७ में सानुवाद प्रकाशित है।

२ कलापव्याकरण सन्धिगर्भित-स्तव—

“सिद्धोवर्णसमाम्नाय” आदि कलापव्याकरण के सन्धि की पादपूर्ति में २३ श्लोकों का यह स्तोत्र सावचूरि जैनस्तोत्रसंदोह भाग २ में छप चुका है।

* इसी के अनुकरण में रुघनाथ कवि ने सं० १८५७ श्रावण ४ में पार्श्वमहिम्नः स्तोत्र (गा० ४०) भी बनाया है पर वह पादपूर्तिरूप नहीं है।

† इसकी प्राचीनता मूलपाठ टीकाएँ आदि के लिये प्रो० रामेश्वर गौरीशंकर ओझा का “महिम्न-स्तोत्र की प्राचीनता और उसका मूल पाठ शीर्षक लेख ‘द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० २४७’।

३ संखेश्वरपार्श्वस्तुति—

अमरकोष के प्रथम श्लोक को ४ श्लोकों में प्रथमचरण को प्रथम श्लोक के प्रथम पाद में, द्वितीय पाद को द्वि० श्लोक के द्वितीयपाद में इस प्रकार ४ पद योजित हैं। पाँचवा श्लोक प्रशस्ति का। कुल ५ श्लोकों में यह स्तवन जिन लाभ सूरि या क्षमाकल्याण उपाध्याय जो कि १६वीं शताब्दी में खरतरगच्छ में अच्छे विद्वान् हो गये हैं, का रचित है। यह स्तोत्र रत्नसागर के पृष्ठ २०६ में प्रकाशित है।

उपर्युक्त पादपूर्ति रूप काव्यों के अतिरिक्त अयोग्यवच्छेद द्वाप्रिशिका के पादपूर्ति-रूप होने का भी कहा जाता है, एवं और भी अनेक साहित्य मिलने की संभावना है। जैन विद्वानों ने ऐसी अनेक रचनाएँ की हैं पर खोज-शोध के अभाव से वे भाण्डारों में ही नष्ट हो चुकीं और हो रही हैं।

जैनविद्वानों की रचित समस्यापूर्तियाँ विपुल प्रमाण में उपलब्ध हैं। अमरचन्द सूरि आदि कतिपय विद्वान् तो ऐसे हो गये हैं जिन्होंने सैकड़ों समस्याओं की (अतिशय मनो-हारिणी) पूर्ति की है। समस्यापूर्तिमय अनेकों स्तोत्र भी जैनसाहित्य में विद्यमान हैं पर वे किसी प्रसिद्ध काव्य के श्लोकों की पूर्ति न होकर सुभाषित या फुटकर श्लोकों की एवं अप्रसिद्ध काव्यों की होने से उनका परिचय इस लेख में नहीं दिया गया है।

इस लेख में विस्तार के भय से पादपूर्ति काव्यों और उनके निर्माताओं का परिचय संक्षेप से ही दिया गया है, कई कवियों का परिचय तो नाममात्र ही देकर संतोष करना पड़ा है अन्यथा यही लेख इससे चौगुना अठगुना लिखा जा सकता है। काव्यों की उत्तमता, गुण-दोष-परीक्षण का कार्य भी काव्यमर्मज्ञों का है अतः अनुभवी विद्वानों से इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य बातों की आशा रखता हुआ इस लेख को समाप्त करता हूँ।



वर्तमान-हिन्दी

(लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल जैन शास्त्री)

जब हम वर्तमान भाषाओं के प्रारम्भिक साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं, और आज से चार हजार वर्ष के पूर्व से लेकर दो हजार वर्ष के पूर्व तक की भाषाओं का अन्वेषण करते हैं तो हमें उस समय सारे भारतवर्ष में प्रचलित केवल दो ही भाषायें मिलती हैं, एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत। जैनों के प्रसिद्ध सूत्र में लिखा है कि “भासा दुविहा, सक्कया पाययाचेव”। अर्थात् भाषायें दो ही हैं संस्कृत और प्राकृत (इसी बात को अनुयोगद्वारा सूत्र में भी कहा है कि “सक्कता पागता चेव दुहा भणित्ताओ आहिया”। स्थानांग सूत्र ७ “संखया पायगाचेव, पस्तथा इति भासिया।”)

षड्भाषा-चन्द्रिका के बनानेवाले पं० लक्ष्मीधर ने भी कहा है कि ‘भाषा द्विधा संस्कृता च प्राकृती चेति भेदतः’। इन अवतरणों से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि उस समय के आर्य कहे जाने वाले इस देश में—भारतवर्ष में दो ही भाषायें थीं। उस समय का रचा हुआ सम्पूर्ण साहित्य इन दो ही भाषाओं में आज उपलब्ध है।

जब हम इन दोनों भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को देखते हैं, तो यह बात निर्विवाद स्पष्ट हो जाती है, कि ये दोनों भाषायें—एक ही भाषा के विभिन्न रूप हैं। जैसे एक ही साधारण मिट्टी के संस्कार किये—जाने पर ईंट, घड़ा आदि अनेक संस्कृत रूपों का दर्शन होता है।

मूल, पत्र आदि सर्व अवयव-युक्त किसी भी शाकवाली वनस्पति या छिलको, गुठली बीज आदि वाली किसी भी प्राकृतिक उत्पन्न होनेवाली वस्तु की ओर आप देखेंगे, तो अनुभव होगा, कि वास्तव में प्रत्येक वस्तु के दो ही रूप होते हैं; एक प्राकृतिक और दूसरा सांस्कारिक। दूर की जाने दीजिये अपने सिर के बालों को ही ले लीजिये, प्रारम्भिक रूप तो प्राकृतिक रूप हैं और काट-छांट कर चढ़ाव-उतार वाला रूप संस्कार किया हुआ रूप है। बस, इसी प्रकार भाषा की दशा का भी अनुभव कीजिए, जो सर्वसाधारण लोगों की बोलचाल की भाषा थी, वही प्राकृत भाषा कहलाती थी। किन्तु भिन्न रुचि के लोग तो सदा से ही चले आये हैं इसलिये जिन्हें बोलचाल की उस स्वाभाविक रूप में लिखना-पढ़ना आदि व्यवहार अधिक भाररूप प्रतीत हुआ, उन्होंने इस प्राकृतिक रूपवाली भाषा का संस्कार करना प्रारम्भ कर दिया। जैसे जिन लोगों को स्वाभाविक उत्पन्न हुए सिर के बाल, डाढ़ी-मँछ आदि पसन्द नहीं पड़े,

उन्होंने उसकी काट-छाँट कर संस्कार प्रारम्भ कर दिया और वर्तमान के सुसज्जित संस्कृत वेष में हमें उनके दर्शन होने लगे ।

इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि एक ही बोलचाल की भाषा के स्वाभाविक रूप का नाम प्राकृत और सांस्कारिक रूप का नाम संस्कृत प्रसिद्ध हुआ ।

जैनों की इस स्वाभाविक और सत्यमानता का पोषण जैनेतर विद्वानों ने भी किया है । देखिये—आठवीं शताब्दी के विद्वान् वाक्पति राज ने अपने 'गडडवहो' नामक महाकाव्य में लिखा है कि—

“सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तोयणेंति बायाओ ।

एति समुदंचिय, गेंति सायराओच्चिय जलाइं ॥९३॥

अर्थात् इसी प्राकृत भाषा में सर्व प्रकार के भाषारूप वचन प्रवेश करते हैं और इसी से निकलते हैं । जैसे, जल समुद्र में ही नदियों द्वारा प्रवेश करता है और बाष्परूप से बाहर निकलता है ।

महाकवि के इस कथन से यह बात निर्बाध प्रमाणित होती है कि प्राकृत भाषा ही सब भाषाओं की जननी है ।

नवीं शताब्दी के विद्वान् राजशेखर ने भी अपनी बालरामायण के एक पद्य में कहा है कि प्राकृत भाषा ही संस्कृत भाषा की योनि है । देखिये, वे कैसे सुन्दर शब्दों में लिखते हैं :—

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां, जिह्वासु यन्मोदते ।

यत्र श्रोत्रयथावतारिणिकटुर्भाषाक्षराणां रसः ।

गद्यचूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच—

स्ताँल्लायत्तल्ललिताङ्गि पश्य नुदता दृष्टेर्निमेषव्रतम् ॥

इस प्रकार एक ही भाषा के ये प्राकृत और संस्कृत दो रूप बने । जिनमें से संस्कृत का रूप तो आजतक ज्यों का त्यों सुरक्षित चला आ रहा है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति के समय से ही यह लिखने की भाषा रही है । कभी भी किसी देश में संस्कृत बोलचाल की भाषा रही हो, इसका कोई पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है और प्राकृत भाषा प्रारम्भ से ही बोली और लिखी जाती रही है इसलिये लिखे जानेवाले अंश का तो अधिक परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु बोले जाने वाले रूप में, समय-परिवर्तन के साथ ही भाषा-परिवर्तन होता गया । यही कारण है कि प्राकृत के क्रमशः देशकाल के भेद से मागधी, अर्धमागधी, पेशाची, सौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि के रूप में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं । आजकल प्राकृत का सब से बिगड़ा हुआ 'यथा नाम तथा गुणवाला' अपभ्रंशरूप माना जाता है, फिर भी सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन

करने पर यह बात असंदिग्ध अनुभव में आती है कि क्रमशः अपभ्रंश का ही और भी परिवर्तित होता हुआ रूप आज वर्तमान हिन्दी भाषा के रूप में हमें दृष्टिगोचर हो रहा है। विद्वानों के विचारार्थ यहाँ शब्द और धातु दोनों के कुछ उदाहरण देता हूँ :—

हिन्दी	प्राकृत या अपभ्रंश	संस्कृत
पीहर	पिउहर	पितृगृह
मौसी (मासी)	माउसिया	मातृध्वसा
रीछ	रिच्छ	ऋक्ष
वानियाँ	वाणिआ	वणिज्
दुआर	दुआर	द्वार
दूना	दुउण, दूण	द्विगुण
अपना	अप्पणय	आत्मीय
इत्तो (इतना)	इअत्तो	इयत्ता, एतावत्
नेनू-लोनी	नवणीअं	नवनीत
चून	चुणण	चूर्ण
उसीसो(तकिया)	उस्सीसो	उच्छीर्ष
ततूरी (तावड़ा)	तत्तूरिआ	तत्तूरिका
और	अउर	अवर
ढोर (पशु)	डहर	(पशु मूर्ख आदि के अर्थ में प्रयुक्त हैं किन्तु इसका संस्कृत रूप नहीं उपलब्ध है)
बाप	वप्पा	वप्ता (बोनेवाला)

ऊपर दिये गये शब्दों के देखने से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान में प्रचलित बोलचाल की हिन्दी, प्राकृत या अपभ्रंश ही बिगड़ा हुआ रूप है न कि संस्कृत का। क्योंकि उन शब्दों की समानता प्राकृत के अधिक समीप है न कि संस्कृत के। और ढोर आदि जैसे शब्द तो संस्कृत भाषा में अभी तक किसी धातु से सिद्ध भी नहीं हुए हैं।

अब कुछ ऐसे शब्दों के उदाहरण दिये जाते हैं जिनके कि थोड़े बहुत विकार से उत्पन्न हुए शब्द संसार की विभिन्न भाषाओं में पाए जाते हैं। यहाँ का अर्थ तत्सम और व्यत्यय (इधर का अक्षर उधर हो जाना) रूप समझना चाहिये। जैसे :—

विभिन्न भाषाओं के शब्द—

गुफ्तगू—यह फारसी का शब्द है जो कि प्राइवेट बातचीत के अर्थ में प्रयुक्त होता

रहा, बाद यौगिक अर्थ छूट गया और साधारण बातचीत के लिये रूढ़ हो गया। इसका प्राकृत रूप गुप्यगू और संस्कृत रूप गुमगू या गोप्यगू है जिसका कि अर्थ 'गुप्त रखने योग्य वचन' होता है।

आफत—यह संस्कृत आपद् शब्द का अपभ्रंशरूप है।

मौज—यह संस्कृत प्राकृत मोद शब्द का विकृत-रूप है।

अफवाह—इसका संस्कृतरूप अपवाद और प्राकृतरूप अपवात्र है जिसका कि अपभ्रंश होने पर अप्पवात्र, अप्पवाह हो गया, साथ ही इसके आंशिक अर्थ में भी परिवर्तन हो गया।

जवांमर्द—इसका संस्कृत-रूप युवामर्त्य और प्राकृत-रूप जुवामत्त, या अपभ्रंश-रूप जुवामरित्त, जुवामर्द है।

सोल्जर—(Soldier) यह अंग्रेजी भाषा का शब्द है जिसका कि अर्थ विशेष बल या अधिकार रखनेवाला है; बाद सिपाही के अर्थ में रूढ़ हो गया। यह संस्कृत के शौण्डीर और प्राकृत के सौण्डीर शब्द का अपभ्रंश रूप है यह बात उसके (Spelling) शब्दोच्चारण देखने से विदित हो जाती है। यदि शब्दोच्चारण के अनुसार यह शब्द बोला जाय तो सोल्डीर या सोल्डर बोला जायगा और "नस्यानुनासिकोलः" के सिद्धान्त को देखकर तो इसे शौण्डीर सौण्डीरा का अपभ्रंश माने बिना कोई रह ही नहीं सकता।

कानिष्ठबल—(Constable) यह शब्द भी अंग्रेजी का है जो सोल्जर से कुछ कम अधिकार रखनेवाले सिपाही के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह शब्द भी 'कनिष्ठबल' संस्कृत या कनिष्ठबल प्राकृतिक का थोड़े से विकार से बना हुआ शब्द है, 'कनिष्ठबल' अर्थ होता है, अल्प बलवाला।

कंदील—यह लालटेन के अर्थ का वाचक शब्द है जो कि कंदीप्रत्न कंदिप्पल या कंदीअल का अपभ्रंश-रूप है। इस प्रकार कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अब जरा वर्तमान की सुधरी हुई हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) की क्रियाओं की ओर भी दृष्टिपात कीजिए जिससे आप को स्पष्ट विदित होगा कि खड़ी बोली के पहले प्रचलित हिन्दी की समस्त क्रियार्य एक दम ही प्राकृत भाषा के अपभ्रंश रूप की प्रचलित थीं। उन रूपों के व्यवहार में आने से लोग प्राकृत अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों को बड़ी सुगमता से समझ लेते थे। किन्तु इस वर्तमान की सुधरी हुई हिन्दी ने तो हमें इतनी दूर लाकर पटक दिया है कि प्राकृत या अपभ्रंश भाषा हमसे हजारों कोश दूर हो गयी है; अब हमें इन प्रचलित क्रियाओं में प्राकृत

या अपभ्रंश भाषा के रूपों की अस्पष्ट भाँकी भी नहीं नज़र पड़ती है। ज़रा मुलाहिज़ा फरमाइयेगा—

पुरानी हिन्दी—तू कहा जाइ या जावइ । जाइ या जावइ एक दम प्राकृत की क्रिया है।

नवीन हिन्दी—तू कहाँ जाता है। जब ऐसी क्रिया बोलचाल में आती थी तो प्राकृत के समझने में सहायता मिलती थी पर अबके जाता है के रूप से बतलाइये, आप किधर जाते हैं ?

पुरानी हिन्दी—वो का करइ । यहाँ पर भी वही हाल है, पर अब बतलाइये ।

नवीन हिन्दी—वह क्या करता है = आप क्या करते हैं ?

पु० हि०—रूपड़ो रंगइ । 'रूपड़ा' यह शब्द प्राकृत 'रूपड' शब्द का स्पष्ट ही अपभ्रंश-

न० हि०—रूपड़ा रंगता है रूप है जिसका संस्कृत-रूप 'कर्पट' है। रंगइ का भी यही हाल है पर बताइये, किसकी बुद्धि रंगी गई !

पु० हि०—रोटी खावइ = रोटी शब्द तो बिल्कुल देशी प्राकृत (रोटुग) का अपभ्रंश-रूप है, इसका संस्कृत-रूप है ही नहीं।

न० हि०—रोटी खाता है = खावइ तो स्पष्ट ही प्राकृत क्रिया है। पर आश्चर्य है कि हमारी बुद्धि को दीमकों ने खा लिया अन्यथा 'खावइ' के के स्थान पर 'खाता है' रूप कहाँ से आ बैठा ?

विशेष—बात यह कहनी है कि वर्तमान की हिन्दी क्रियाओं के साथ जाता है खाता है आदि के रूप में 'है' तो पता नहीं, किधर से आ बैठा ? कृपया हिन्दी-भाषा के आचार्य इसका समाधान करें।

पुरानी हिन्दी की क्रियाओं की कितनी अधिक समानता प्राकृत क्रियाओं से है इसके कुछ उदाहरण लीजिये—

पुरानी हिन्दी-क्रिया	प्राकृत क्रिया	पुरानी हिन्दी क्रिया	प्राकृत क्रिया
पीवै (पीता है)	पिअइ ।	चुपड़ै (चुपड़ता है)	चोप्पडइ ।
पूछै (पूछता है)	पुच्छइ ।	हसै (हँसता है)	हसइ ।
छीवै (स्पर्श करता है)	छिवइ ।	रमै (रमता है-खेलता है)	रमइ ।
देखै (देखता है)	देक्खइ ।	रुसै (रोष करता है)	रुसइ ।
चूकै (चूकता है)	चुक्कइ ।	पोंछे (पोंछता है, साफ करता है)	पुञ्छइ ।

वर्तमान में बोली जानेवाली गिनती—एक, दो, तीन ग्यारह, बारह, बीस, तीस आदि तो समस्त ही संख्या-वाचक शब्द प्राकृत के ही हैं। यह भी एक आश्चर्य की ही बात है कि

वर्तमान—गद्य-पद्य हिन्दी में तो एकदम संस्कृत-शब्दों की भरमार की जा रही है, पर गिनती—गणना के शब्दों में जरा भी परिवर्तन नहीं किया जा रहा है, इसी को कहते हैं—‘आधी तीतर—आधी बटेर ।’ मैं तो चाहता हूँ कि या तो वर्तमान हिन्दी संस्कृत का ही अनुसरण करे तो भी ठीक है जिससे कि वह संस्कृत भाषा के अति समीप पहुँच सके । अथवा फिर अपनी पुरानी सभ्यता के अनुसार अपनी जननी प्राकृत का ही अनुसरण करे, जिससे उसके समीप पहुँच सके । आज की हिन्दी की दशा देखते हुए सहसा मुँह से निकल पड़ता है कि—“धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का” । आज की हिन्दी की भी यही दशा है । न यह संस्कृत के ही पास पहुँच सकी, न प्रकृत के ही पास रह सकी । जिससे बहुभाग हिन्दी के विद्वान् उभयतः पार्श्ववर्ती दोनों ही भाषाओं से अपरिचित रह रहे हैं । जो दोनों भाषाओं से परिचित भी हैं तो यह वर्तमान हिन्दी के प्रताप से नहीं किन्तु स्वतंत्र ही उन भाषाओं के अध्ययन से ।

जैनधर्म के प्रवर्तक सदा से ही प्रकृति के अति समीप रहे हैं । यहाँ तक कि उन्होंने अपना उच्च आदर्श तक प्रकृति-प्रदत्त ‘यथा जातरूपता’ को ही माना । यही कारण है कि उन्होंने उसी भाषा को प्रारम्भ से अपनाया, जो प्रकृति-प्रदत्त थी, जिसमें बाहरी काँट-झोंट या नोक-झोंक को स्थान न था । यह भाषा ही सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा थी, जिससे जैनियों ने इसी भाषा में उपदेश देना, ग्रन्थ रचना करना आदि के रूप में सर्वसाधारण का अनन्त उपकार किया है, जैसा कि कहा है—

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारितूकाङ्क्षिणाम् ।

तेषां सुखावबोधाय सिद्धान्ताः प्राकृते कृताः ॥

अर्थात्—“बालक, स्त्री, अल्पबुद्धि, मूर्ख और चारितू के धारण करने के इच्छुक लोगों को सरलता-पूर्वक वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये महर्षियों ने आगम-सिद्धान्तों को प्राकृत भाषा में बनाया ।”

उपसंहार

आज जिस भाषा के बोलने वाले भारतवर्ष में सब से अधिक हैं, जिस की सुख-बोधता को देखकर नेतागण इसे राष्ट्र-भाषा बनाने का उपक्रम कर रहे हैं, उस हिन्दी भाषा का उद्गम-स्थान प्राकृत-अपभ्रंश भाषा ही है । और यह तो निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि यह जैनियों की ही भाषा थी, उन्होंने ही इसे प्रारम्भ से आज तक अपनाया और खूब बढ़ाया है । यदि कहीं किसी अजैन ग्रन्थकार ने इसे अपने ग्रन्थ में अपनाया तो केवल पात्रों की हीनता दिखाने के लिये अपनाया है अतः वे इसके पोषकों में नहीं माने जा सकते । इस प्रकार इस भाषा के आदि प्रवर्तक होने के नाते जैनों के अगणित उपकारों से भारतीय उपकृत हैं ।

जैन एवं बौद्ध-वाङ्मय में कुछ पारिभाषिक शब्दों का साम्य

१ अर्हत् या अर्हन्त	२८ नय
२ अकिञ्चन	२९ निर्वाण
३ अचेलक	३० न्यग्रोधपरिमण्डल
४ अतिथि	३१ परमाणु
५ अनागार	३२ पर्याय
६ आवरण	३३ परिनिर्वृति
७ आस्रव	३४ पुद्गल
८ आहार	३५ पृथ्वीकाय
९ आगम	३६ प्रत्येकबुद्ध
१० ईर्यापथ	३७ प्रमाद
११ उपपादयोनि	३८ प्रवचन
१२ उपवास	३९ बन्ध
१३ उपाश्रय	४० बोधि
१४ औदारिक	४१ भव
१५ कषाय	४२ भावना
१६ कल्प	४३ महावीर
१७ केवली	४४ मिथ्यादृष्टि
१८ गति	४५ मुनि
१९ गन्धकुटी	४६ मोक्ष
२० चक्ररत्न	४७ मोह
२१ चैत्य	४८ योग
२२ जरायुजयोनि	४९ राग
२३ जिन	५० विदेह-क्षेत्र
२४ तीर्थकर	५१ विपाक
२५ दश धर्म	५२ विमान
२६ द्वादशाङ्ग	५३ विमुक्ति
२७ ध्यान	५४ विमोक्ष



५५ वीतराग	६६ संघ
५६ व्रैतरणी	६७ समाधि
५७ व्यसन	६८ सम्यग्ज्ञान
५८ शासन	६९ सम्यग्दृष्टि
५९ शीलव्रत	७० सल्लेख
६० शैक्ष्य	७१ सुदर्शन
६१ श्रमण	७२ संवर
६२ श्रावक	७३ संवुद्ध
६३ श्राविका	७४ स्कन्ध
६४ श्रुत	७५ हिमवान् (पर्वत)
६५ षडायतन	

उल्लिखित पारिभाषिक शब्द बौद्धों के मान्यग्रन्थ “मज्झिमनिकाय” “विनयपिटक” “अभिधम्म कोश” एवं “बुद्धचर्या” से संगृहीत हुए हैं। इनके अन्यान्य ग्रन्थों के अवलोकन से और भी ऐसे पारिभाषिक शब्द मिल सकते हैं। अब जैनी ही नहीं जैनेतर प्रख्यात ऐतिहासिक विद्वान् भी बौद्ध धर्म से जैन धर्म को निर्विवाद रूप से प्राचीन मानने लगे हैं। ऐसी दशा में बहुत कुछ सम्भव है कि उल्लिखित इन पारिभाषिक शब्दों में से ‘जिन’ ‘श्रमण’ आदि बहुत से शब्दों को जैन-वाङ्मय से ही बौद्धों ने लिया हो। आशा है कि तुलनात्मक-दृष्टि से अध्ययन करने वाले दर्शन-शास्त्र के जिज्ञासुओं को इस लघु-शब्द-तालिका से यत्किञ्चित् अवश्य सहायता मिलेगी।

के० बी० शास्त्री



जैनों के विश्वास

(ले० — श्रीमती स्टैन हार्डिंग)

दारिद्र्य, रोग, जरा, मरण और हिंसा के विरुद्ध मनुष्य में जितनी प्रतिक्रियाएँ हुई हैं, उनमें जैनधर्म सब से अधिक प्रभावोत्पादक है। किसी समय यह सारे भारत का धर्म बनने की आशा बँधाता था। यद्यपि इसे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ तो भी इसका प्रभाव अब भी काफी है। आज भी जैनधर्म के मानने वालों में अच्छे अच्छे धनाढ्य हैं।

पिछले कुछ वर्षों से जैनधर्म का प्रभाव अधिक स्पष्ट हो गया है। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि महात्मा गाँधी की 'अहिंसा' की जड़ में गुजरात-व्यापी जैनधर्म का प्रभाव छिपा हुआ है।

यह एक विचित्र बात है कि स्वेच्छापूर्वक अनशन करना जैनियों में सब से बड़ा पुण्य है। हाल ही में एक जैन साधु मध्य भारत से कराची आए और उन्होंने नव्वे दिनों का उपवास ज़ारी किया। स्थानीय जैन लोगों ने भी उनके सम्मान के लिए एक दिन उपवास किया।

स्वेच्छापूर्वक अनशन कर जैन तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया था, आवागमन से मुक्ति प्राप्त कर ली थी।

कीड़ों के प्रति दया

जैनधर्म और बौद्ध धर्म में काफी साम्य है। जैनों की तरह बौद्धों ने भी सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का व्रत लिया है। इनका भी उद्देश अहिंसा-पूर्वक जीवन व्यतीत करना है। किन्तु जैनधर्म में क्षुद्रातिक्षुद्र कीड़ों और सभी प्राणियों के प्रति पूर्ण अहिंसा का महत्त्व बहुत अधिक है।

जैन न तो देवताओं से डरते हैं और न पिस्तुओं से घृणा करते हैं। दुःखदायी जूँ और दिखार्ई न पड़ने वाला सूक्ष्म कीड़ा भी उसकी दया के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। अणुवीक्षण यन्त्र में जितनी ही उन्नति होती जा रही है, जैनों का जीवन भी उतना ही कठिन होता जा रहा है। जैन लोग छोटे छोटे कीड़ों-मकोड़ों की रक्षा के लिए किस तरह प्रयत्नशील रहते हैं, यह पढ़ कर अन्यधर्मावलम्बी विना हँसे न रहेंगे।

यह भविष्यद्वाणी करना आसान है कि यदि कोई पाश्चात्य जाति भौतिकवाद वाली सभ्यता से दुःखित होकर और आधुनिक युद्धों से पीड़ित होकर पूर्व की ओर कोई दूसरा धर्म प्राप्त करने के लिए दृष्टि दौड़ावेगी तो जैनधर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म को ही वह पसन्द करेगी। तो भी जैनधर्म, भारत में एक जीवित शक्ति है। किन्तु बौद्ध धर्म की जड़ अपनी

जन्मभूमि से ही उखड़ गयी है। अब चीन, जापान या लङ्का के बौद्ध यात्री ही बौद्ध धर्म के चिह्न-स्वरूप यहाँ मिल सकते हैं।

मोक्ष

प्रायः प्रत्येक पूर्वदेशीय व्यक्ति जीवन के अस्थायित्व को समझता है। जैन सूत्रों से बारम्बार यही ध्वनि निकलती है कि जीवन अज्ञानमय और नश्वर है। हिन्दू और बौद्ध ग्रन्थों की तरह उनका भी विश्वास है कि आवागमन से छुटकारा पा जाना ही मोक्ष है।

यदि कोई जैन शास्त्रों में साधुओं की जीवनचर्या के नियमों को पढ़े तो उसे मालूम होगा कि तपस्या की कठोरता की पराकाष्ठा यहाँ आकर हुई है।

जीवन के संघर्ष की क्रूरताओं के प्रति जैन सूत्रों के उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जीवन की कठिनाइयों के प्रति वे लोगों को सावधान करते हैं। मुझे धीमे स्वर में यह सुनाई पड़ रहा है 'छः घुड़सवार भी एक नंगे मनुष्य को नंगा नहीं कर सकते'। लेकिन पाश्चात्य देशों के लोगों के कानों तक यह ध्वनि पहुँचती ही नहीं।

तीर्थंकर

जैन लोग ईश्वर की पूजा नहीं करते। वे केवल उन जिनों की पूजा करते हैं जिन्होंने अहिंसा-मार्ग के द्वारा निर्वाण-पद को प्राप्त किया है। इनकी प्रस्तर-निर्मित मूर्तियाँ दृढ़भाव से मोक्ष की प्रतीक्षा में खड़ी हैं। वे इतने दिनों से और इस प्रकार शान्तभाव से खड़ी हैं कि वे लताओं से परिवेष्टित हो गई हैं और सपों ने अपने रहने के लिए उनमें बिल बना लिया है। वे मूर्तियाँ नंगी रहती हैं, और यह बतलाती हैं कि आत्मा ने सांसारिक जीवन के अन्तिम वर्ष पूरे कर लिये हैं और अब शरीर निर्वाण-पद को प्राप्त हो गया है। जिस प्रकार निर्वाण मिलने पर आत्मा को वस्त्र अर्थात् शरीर की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार शरीर को भी बाह्य आवरण की आवश्यकता नहीं रहती है।

जिनों को चिकने जराहीन शरीर-धारियों के रूप में दिखलाया गया है। उनका मुख अत्यन्त गंभीर होता है और उनका भाव शान्ति और दृढ़ता का जीता जागता चित्र होता है। पहले के लोगों ने कहा था "कुछ मत करो, और सब कुछ स्वयं हो जायगा!" ये मूर्ति के रूप में खड़े जिन इसी उक्ति को जोर से दुहरा रहे हैं।

मैसूरु के इन्द्रगिरि पहाड़ पर एक विशाल मूर्ति है। उसका नाम गोम्मटेश्वर है और वह बहुत दूर तक दिखाई पड़ती है। मूर्ति का सिर सुन्दर है, उसका शरीर भी सुन्दर है; किन्तु आश्चर्य की बात है कि उसके पैर छोटे हैं।

❖ जैनी मुक्तात्माओं को ही ईश्वर मानते हैं। इनका आग्रह किसी खास ईश्वर का संकेत नहीं करता। (सम्पादक)

† तीर्थंकरों की मूर्तियाँ आपके इन लक्षणों से लक्षित नहीं होतीं। ज्ञात होता है कि आपने श्रीबाहुबली स्वामी की प्रतिमा को देखकर ही यह भाव प्रकट किया है। (सम्पा०)

यद्यपि यह मूर्ति दो हजार वर्ष की पुरानी है, तो भी यह जान पड़ता है कि यह अभी बनाई गई है। प्रति बारहवें वर्ष भक्तगण मूर्ति को तेल* से स्नान कराते हैं।

पहाड़ के नीचे एक वृद्ध जैन साधु रहता है। वह भी दिगम्बर है। और इस कारण ब्रिटिश भारत में अपने आचरण को निवाहना उसके लिए कठिन हो सकता है।

यात्रियों का मार्ग

उत्तर से हजारों यात्री इन्द्रगिरि जाते हैं। मैं वहाँ डाक-बैंगले में ठहरी हुई थी और यात्रियों के आगमन को देखती थी। कभी कभी यात्रियों का भारी दल आता था। ऐसे भारी दल विशेष कर गुजरात से आते थे।

मुझे तीस व्यक्तियों के एक विशेष दल की बात याद है। उसमें मर्द, औरत और बच्चे भी थे। वे आधी रात के बाद पहुँचे, लेकिन सबेरा होने के पहले ही वे जग गए और स्नान आदि क्रिया से निवृत्त होने लगे।

वह जनवरी का महीना था और सबेरे बहुत ठंड गिर रही थी। लेकिन मर्दों और औरतों ने अपने वस्त्रों को साफ करने के बाद, गीले वस्त्र पहने ही पहाड़ पर चढ़ना शुरू किया और कई सौ सीढ़ियाँ तय कर वे मूर्ति के पास पहुँचे। वे दोपहर से पहले ही लौट आए। तब कहीं उन्होंने भोजन बनाया, खाया और दूसरी जगह चले गए।

इन गृहस्थ यात्रियों के दलों के अलावा अनेक जैन साधु और साध्वी दक्षिणी मन्दिरों को यात्रा करती हैं। उनका मार्ग सीधा किन्तु तङ्ग है।

उन्हें चाहे कितनी भी प्यास लगी रहे वे रास्ते के कूँएँ या तालाब से पानी नहीं पी सकते हैं। वे खौलाया हुआ पानी दूसरों के लिए लेचलते हैं पर स्वयं उसे नहीं पी सकते। क्योंकि वे अपनी प्यास बुझाने में जीव-हिंसा करनी ही नहीं चाहते। राह में चाहे कितने भी फल के पेड़ क्यों न हों, वे तोड़ कर फल नहीं खा सकते। वे तो केवल वे ही फल खा सकते हैं जो स्वयं गिरे हों। वे घास पर इसलिए नहीं चलते कि कहीं हिंसा न हो जाय। जीव-हिंसा से बचने के लिए वे घास पर न चल कर धूल में चलते हैं†।

दक्षिण कन्नड में भी एक पहाड़ की चोटी पर एक विशाल जिन हैं। वे भी दिगम्बर हैं। पत्थर की बनी हुई लताएँ उनके शरीर में लिपटी हैं और विशालकाय सर्प उनके पैरों में लिपटे हैं‡।

[‘इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया’ ७ जून ३६से]

‘चाँद’ और ‘भविष्य’ के भूतपूर्व सम्पादक श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद जो वी० ए० ने इसका अनुवाद करने की कृपा की है। (सम्पा०)

* अभिषेक के लिये काल का नियम नहीं है और स्नान तेल से नहीं पञ्चामृत से। (सम्पा०)

† सर्वसाधारण जैनों इस उच्च आदर्शभूत चारित्र्य का अनुसरण नहीं कर सकते। (सम्पा०)

‡ कार्कल की गोम्पटेश्वर-मूर्ति का यह वर्णन है। (सम्पा०)

समालोचना

क्रियो-कलाप—सम्पादक, संशोधक एवं प्रकाशक पं० पन्नालाल सोनी शास्त्री, पृष्ठ-संख्या ३४०, आठ पेजी फर्मा-साइज डिमाई। प्राप्तिस्थान—श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन—भालरापाटन, बंबई तथा व्यावर—मूल्य १।)

यह मुनि एवं श्रावकों का नित्यनैमित्तिकक्रियाप्रतिपादक आचार-ग्रन्थ है। इसके सम्पादक 'जैनसिद्धांत' पत्र के संपादक एवं ऐ० प० दि० जैनसरस्वती भवन भालरापाटनके अध्यक्ष समाजमान्य पं० पन्नालाल जी सोनी हैं। सोनी जी अध्ययनशील एक व्युत्पन्न विद्वान् हैं। आपने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर समाज की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है यह बड़े हर्ष की बात है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। (१) वन्दनाध्याय (२) प्रतिक्रमणाध्याय (३) भक्त्यध्याय (४) नैमित्तिक-क्रियाध्याय। प्रथमाध्याय के प्ररम्भीक देववन्दना या सामायिक विधि (कृतिकर्म, देववन्दना-प्रयोग-विधि, देववन्दना-प्रायोगानुपूर्वी) का हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। चारों अध्यायों में कुल ३९ पाठ हैं। भक्तियों के मूलकर्त्ता एवं टीकाकार के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इसके सम्पादन और संशोधन के विषय में सोनी जी अपनी ११ पृष्ठ की भूमिका के अन्त में स्वयं लिख रहे हैं "अन्त में नम्र निवेदन यह कि इस ग्रन्थ के सम्पादन, संशोधन और संकलन में कई त्रुटियाँ रह गयी हैं तथा अज्ञान व प्रमादवश और यथेष्ट साधनाभाव के कारण कई अशुद्धियाँ भी रह गयी हैं। कहीं कहीं मात्रा आदि जो संशोधन के समय ठीक थीं परन्तु छपते समय उड़ गयी हैं, अतः प्रेस की वजह से भी कितनी ही अशुद्धियाँ हो गयी हैं।" द्वितीय संस्करण में इन त्रुटियों को दूर करने के लिये विज्ञ संपादक स्वयं ही प्रयत्नशील होंगे, इसी लिये इस विषय में विशेष पिष्ट-पेषण करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। हाँ, सम्पादक महोदय से मेरा यह अनुरोध अवश्य है कि इसके द्वितीय संस्करण में प्राकृत पाठों के संशोधन में विशेष ध्यान दिया जाय।

अस्तु ग्रन्थ की छपाई और सफाई आदि पूरासनीय है। इसका मूल्य भी अधिक नहीं है, अतः प्रत्येक जैनी को सोनी जी के इस सामयिक प्रयत्न का समुचित समादर करना चाहिये। सोनी जी ने इसके सम्पादन एवं संशोधन में काफी परिश्रम किया है तथा यह ग्रन्थ भी अच्छा प्रकाशित हुआ है।

के० भुजबली शास्त्री

ग्रन्थमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—श्रीयुत पं० के० भुजवली शास्त्री)

(क्रमागत)

नाम का एक ग्रंथ है और इसके कर्त्ता सिंहनन्दी कहे जाते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में कहीं भी कर्त्ता का उल्लेख नहीं है। इसलिये पता नहीं कि उक्त कल्प ही यह है या इससे भिन्न। इसका निर्णय दोनों ग्रन्थों के मिलाने से हो हो सकेगा। 'कल्प' भवन में नहीं रहने से इसके रचयिता के विषय में इस समय अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में शान्ति, पौष्टिक, उच्चाटन, वशीकरण, स्तंभन एवं मोहनादि मंत्र-शास्त्र-सम्बन्धी भिन्न भिन्न अनेक विषयों का प्रतिपादित करने की ग्रन्थकर्त्ता ने प्रतिज्ञा की है। पाँचवें पृष्ठ के पूर्व-पृष्ठ में पूर्वाह्न के वसन्त, मध्याह्न के ग्रीष्म, अपराह्न के प्रावृत्, प्रदेश के शिशिर, अर्धरात्रि के शरद्, प्रत्युष के हेमन्त लिख कर शरद् में शान्ति, हेमन्त में पौष्टिक, वसन्त में वश्य, फिर हेमन्त और शरद् में आकर्षण, ग्रीष्म में विद्वेषण, प्रावृत् में उच्चाटन एवं शिशिर में मारण-विधान का संकेत किया गया है।

नवम पृष्ठ के पूर्व पृष्ठ में कौन से ग्रह शरीर के किस अङ्गोपाङ्ग में कौन सी बाधा पहुँचाते हैं—इसका यों खुलासा किया है :—

सूर्य शिरोवेदना, चंद्र मुखपीड़ा, शुक्र पृष्ठ-बाधा, भौम उदर-शूल, बुध हृदय-व्यथा, बृहस्पति कटिपीड़ा, शनि दोनों बगलों में दर्द, राहु जङ्घावेदना तथा केतु पैरों में पीड़ा पहुँचाते हैं। इसी पृष्ठ में यह दिग्दर्शन कराया गया है कि सायंकाल में राहु और शनि की शांति के लिये नेमिनाथ की, सूर्य और मङ्गल के शान्त्यर्थ वासुपूज्य की, केतु की शांति के निमित्त पार्श्वनाथ की, शुक्र तथा चन्द्रमा की शांति के हेतु चंद्रप्रभ की एवं गुरु की शांति के हेतु शान्तिनाथ तीर्थङ्कर की पूजा करनी चाहिये।

फिर पृष्ठ दस में ग्रहों के दुष्परिणाम यों लिखे गये हैं :—

चंद्र और शुक्र से शिरःपीड़ा, बुध और बृहस्पति से हृदयशूल, शनि और राहु से उदरवेदना, सूर्य और मङ्गल से हृदय-कम्पन, पुनः चन्द्र और शुक्र से जल से समुत्पन्न मौक्तिक आदि रत्न एवं सुन्दर धान्य आदि द्रव्यों का क्षय, बुध और बृहस्पति से सुवर्ण, रेशम, रत्न और चावल आदि पदार्थों की क्षति, शनि और राहु से नीलादि रत्न, तिल,

मूंग, उड़द, चना एवं केदों आदि अन्न का नाश तथा सूर्य और मंगल से सूर्यकांत लालमणि, मूंगा वगैरह द्रव्यों का क्षय होता है ।

अन्यान्य कतिपय मंत्र-शास्त्रों की तरह प्रस्तुत ग्रंथ में भी कपाल, कफन, कई पशुओं की हड्डियों, रोओ, नररक्त, श्मशान की आग आदि अपवित्र वस्तुओं का भी प्रयोग लिखा मिलता है । हाँ इसमें विशेषता सिर्फ यही है कि मारण आदि क्रूर कर्म का विधान नहीं पाया जाता है । यंत्र-मंत्र-रचना-विधि मंत्र-साधन विधि, प्रत्येक तीर्थद्वार के यक्ष-यक्षियों की मंत्र-सिद्धि भी संक्षेप में इसमें प्रतिपादित की गयी है ।

अन्त में यह स्पष्ट लिखा है कि इस ग्रंथ-गत मंत्र-शास्त्र का मर्म सम्यग्दृष्टि को ही देना चाहिये न कि नास्तिक, धर्मद्वेषी, मिथ्यादृष्टि और अपने धर्म में अविश्वास करने-वालों को ।

(१७) ग्रन्थ नं० २२४
ख

कल्याणकारक

कर्ता—उप्रादित्याचार्य

विषय -- वैद्यक

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१३। इञ्च

चौड़ाई—८। इञ्च

पत्रसंख्या १५५

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमत्सुरासुरनरेन्द्रकिरीटकोटि-माणिक्यरश्मिनिकराचितपादपेठः ।

तीर्थादिपूजितवपुर्वृषभो बभूव साक्षादकारणजगत्त्रितयैकबन्धुः ॥ १ ॥

तं तीर्थनाथमधिगम्य विनम्य मूर्ध्ना सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्त्तिम् ।

सप्रश्रयातिकरणोरुहृतप्रणामाः पञ्चक्षुरित्थमखिलं भरतेश्वराद्याः ॥ २ ॥

प्राग्भोगभूमिषु जना जनितातिरागाः कल्पद्रुमार्पितसमस्तमहोपभोगाः ।

दिव्यं सुखं समनुभूय मनुष्यभावे स्वर्गं ययुः पुनरपीष्टसुखं सुपुण्याः ॥ ३ ॥

अत्रोपपादवरमोत्तमदेहवर्गाः पुण्याधिकास्त्वनपवर्त्य महायुषस्ते ।

अन्ये परार्थपरमायुष एव लोके तेषां महद्भयमभूद्दिह दोषकोपात् ॥ ४ ॥

देव ! त्वमेव शरणं शरणागतानामस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ ।
 शीतातिवातहिमवृष्टिनिपीडितानां कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम् ॥ ५ ॥
 नानाविधामयभयादतिदुःखितानामाहारभेषजनिरुक्तिमजानतां नः ।
 तत्संस्थरक्षणविधानमिदं शतुराणां का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ ॥ ६ ॥
 विज्ञाप्यदेवमिति विश्वजगद्विदितार्थं तूष्णीं स्थिता गणधरप्रमुखप्रधानाः ।
 तस्मिन्महासदासि दिव्यनिनादयुक्ता वाणी ससार सरसा वरदेवदेवी ॥ ७ ॥
 तत्रादितः पुरुषलक्षणमामयानामप्यौषधान्यखिलकालविशेषणञ्च ।
 संक्षेपतः सकलवस्तुचतुष्टयं सा सर्वज्ञसूचकमिदं कथयाञ्चकार ॥ ८ ॥
 दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम् ।
 पश्चाद् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपञ्चमिष्टार्थनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः ॥ ९ ॥
 एवं जनान्तरनिबन्धनसिद्धमार्गादायातमायतमनाकुलमर्थगाढम् ।
 स्वायम्भुवं सकलमेव सनातनं तत्साक्षात् श्रुतं श्रुतधरैः श्रुतकेवलिभ्यः ॥ १० ॥
 प्रोद्यज्जिनप्रवचनामृतसागरान्तः प्रोद्यत्तरङ्गानि सृताल्पसुशीकरं वा ।
 वक्ष्यामहे सकललोकहितैकधाम कल्याणकारकमिति प्रथितार्थयुक्तम् ॥ ११ ॥
 नैवातिवाक्पटुतया न च काव्यदर्पाद्देवान्यशास्त्रमदभंजनहेतुना वा ।
 किन्तु स्वकीयतप इत्यवधार्य वर्दमाचार्यमार्गमधिगम्य विधास्यते तत् ॥ १२ ॥
 स्वाध्यायमाहुरपरे तपसां हि मूलमन्ये च वैद्यवरवत्सलताप्रधानम् ।
 तस्मात्तपश्चरणमेव मया प्रयात्नादारभ्यते स्वपरसौख्यविधायि सम्यक् ॥ १३ ॥
 अत्रापि सन्ति बहवः कुटिलस्वभावा दुर्दृष्टयो द्विरसनाः कुमतिप्रयुक्ताः ।
 छिद्राभिलाषनिरताः परबाधकाश्च घोरोरगैरुपमिताः पुरुषाधमास्ते ॥ १४ ॥
 केचित्पुनः स्वगृहमान्यगुणाः परेषां दुष्यन्त्यशेषविदुषां न हि तत्र दोषः ।
 पापात्मनां प्रकृतिरेव परेष्वसूयापैशुन्यवाक्पुरुषलक्षणलक्षितान्ता ॥ १५ ॥
 केचिद्विचाररहिताः प्रथितप्रतापाः साक्षात्पिशाचसदृशाः प्रचरन्ति लोके ।
 तैः किं यथा प्रकृतमेव मया प्रयोज्यं मात्सर्यमार्यगुणवर्यमिति प्रसिद्धम् ॥ १६ ॥
 एवं विचार्य शिथिलीकृतमत्सरोऽहं शास्त्रं यथाधिकृतमेवमुदाहरिष्ये ।
 सर्वज्ञवक्त्रनिःसृतं गणदेवलब्धं पश्चात्प्रजापतिपरं परयावतीर्णम् ॥ १७ ॥
 विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम् ।
 दैद्यं वदन्ति पदशास्त्रविशेषणज्ञा एतद्विदन्त्यथ पठन्ति च तेऽपि वैद्याः ॥ १८ ॥
 वेदोऽयमित्यपि च चोदविचारलाभस्तत्रार्थसूचकवचः खलु धातुभेदात् ।
 आयुश्च तेन सह पूर्वनिबद्धमुद्यच्छास्त्राभिधानमपरं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १९ ॥

एवं विधस्य भुवनैकहिताधिकोद्यद्वैद्यस्य भाजनतया प्रविकल्पिता ये ।
तानत्र साधुगुणलक्षणसाम्यरूपान् वक्ष्यामहे जिनपतिप्रतिपन्नमार्गान् ॥२०॥
× × × × ×

मध्यभाग (पृष्ठ ५६ पंक्ति १६ श्लोक १ से)

जिनमनघमनन्तज्ञाननेत्राभिरामं त्रिभुवनसुखसम्पन्नमूर्तिमत्यादरेण ।
प्रतिदिनमतिभक्त्यानम्य वक्ष्याम्युदारध्वजगतमुपदंशख्यातशूकाभिधानम् ॥२॥
वृषणविधिविवृद्धिप्रोक्तदोषक्रमेण प्रकटतरचिकित्साभेदनोत्पन्नशोफी ।
वितरतु विधियुक्तां चोपदंशाभिधाने निखिलविषमशोकेष्वेवमेव प्रयोगः ॥२॥
स भवति खलु शोफो द्विप्रकारो नराणामवयवनियतोऽन्यः सर्वदेहोद्भवश्च ।
सकलतनुगतो वा मध्यदेहोर्ध्वदेहे श्वयथुरतिसुकृष्टक्लिष्टशुक्लेतराङ्गः ॥३॥
श्वयथुरतिविशालो विद्राधिः कुम्भरूपो मुखरहिततया तु ग्रन्थयः सम्प्रदिष्टः ।
मुखयुतपिटकाख्यां शोफकालानुरूपैरुपहननविशेषैस्साधनैस्साधयेत्तम् ॥४॥
ज्वरयुतपरिदाहश्वासतृष्णातिसारप्रकटबलविहीनारोचकोद्गारयुक्तः ।
यमसदनमवाप्नोत्याशु शून्याङ्ग्यष्टिर्यमनुशकृदनुनं दृष्टकामो मनुष्यः ॥५॥
× × × ×

अन्तिम भाग :—

श्रीविष्णुराजपरमेश्वरमौलिमाला-संलालिताङ्घ्रियुगलः सकलागमज्ञः ।
आलापनीयगुणमुन्नतसन्मुनीन्द्रः श्रीनन्दिनन्दितगुरुर्गुरुर्जितोऽहम् ॥५१॥
तस्याज्ञया विविधभेषजदानसिद्ध्यै सदैववत्सलतपःपरिपूरणार्थम् ।
शास्त्रं कृतं जिनमतोद्धृतमेतदुद्यत् कल्याणकारकमिति प्रथितं धरायाम् ॥५२॥
इत्येतदुत्तरमनुत्तरमुत्तमज्ञैर्विस्तीर्णमस्तु युतमस्तसमस्तदोषाः ।
प्राग्भाषितं जिनवरैरधुना मुनीन्द्रोप्रादित्यपण्डितमहागुहमिः प्रणीतः ॥५३॥
सर्वार्थाधिकभागधीयविलसद्भाषाविशेषोज्ज्वलत्
प्राणापायमहागमाद्यवितथं गृह्य संक्षेपतः ।
उप्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुणगणैरुद्भासि सौख्यास्पदम्
शास्त्रं संस्कृतभाषया रवितवान् इत्येष भेदस्तयोः ॥५४॥
सालंकारं सशब्दं श्रवणसुखमथप्रार्थितं स्वार्थविद्धिः
प्राणायुः सत्ववीर्यं प्रकटबलकरं प्राणिनां स्वास्थ्यहेतु ।
विध्युद्भूतं विचारक्षममिति कुशलाः शास्त्रमेतद्यथावत्
कल्याणाख्यं जिनेन्द्रैर्विरचितमधिगम्याशु सौख्यं लभन्ते ॥५५॥

अल्पाद्धं द्विसहस्रकैरपि तथा शीतोतरैर्वृत्तैः (?)

संचरितैरिहाधिकमहावृत्तैर्जिनेन्द्रोदितैः

प्रोक्तं शास्त्रमिदं प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार्यार्थवत् ।

स्थेयाच्छीरविचन्द्रतारकमलं सौख्यास्पदं प्राणिनाम् ॥५६॥

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहाम्बुनिधेः सकलार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ।

उभयभवार्थसाधनत उद्वयभासुरतो निस्तृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥५७॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृतकल्याणकोत्तरे नानाविधकल्पकल्पनासिद्धये कथाधिकारः पञ्चमो-
ऽध्यायोऽप्यादितः पञ्चविंशपरिच्छेदः ।

X X X X X X

शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतन्त्रं च पात्र-

स्वामिप्रोक्तं विषोप्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः ।

काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनाम्

वैद्यं वृष्यञ्च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः ॥

अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं स्वविस्तरवचोविभवैर्विशेषात् ।

संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ।

वेङ्गीशत्रिकलिङ्गदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः

प्रोद्यद्भृत्तलताविताननिरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः ।

सर्वैर्मन्दरकन्दरोपमगुहाचैत्यालयालङ्कृते

रम्ये रामगिराविदं विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥*

इस वैद्यक ग्रन्थ कल्याणकारक के रचयिता आचार्य उग्रादित्य जी हैं। इस के प्रशस्तिगत ५१ वें श्लोक में इन्होंने अपने गुरु को श्रीनन्दि नाम से याद किया है। पता नहीं चलता कि यह श्रीनन्दि जी कौन हैं। हाँ श्रवणबेल्लोलस्थ शिलालेख नं० ४६३ (शक १०४७) में एक श्रीनन्दि का उल्लेख मिलता है अवश्य, मगर इनके शिष्य उग्रादित्य न होकर सिंहनन्दि हैं। बल्कि इनकी शिष्यपरम्परा में उग्रादित्य का नाम कहीं उपलब्ध नहीं होता।

प्रायश्चित्तचूलिका एवं योगसार के कर्त्ता गुरुदास के गुरु का नाम भी श्रीनन्दि है। किन्तु यहाँ भी मालूम नहीं होता कि उग्रादित्य के गुरु यही हैं या दूसरे। भास्कर भाग १ किरण ४ पृष्ठ ७८ में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावली में भी एक श्रीनन्दि का नाम

* ये अन्तिम तीन श्लोक 'भवन' की प्रति में नहीं हैं।

आया है। इसमें इनका समय वि० सं० ७४६ अर्थात् ८ वीं शताब्दी बतलाया गया है। वहाँ इन्हें उज्जैनी के पट्टाधीश लिखा है। इसी प्रकार श्रीचन्द्र के (वि० सं० १०७०) गुरु भी श्रीनन्दि कहे गये हैं। आचार्य वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में एक श्रीनन्दि का उल्लेख किया है जो इनके प्रगुरु थे। अनुमानतः इनका समय १३ वीं शताब्दी होता है। क्योंकि इनके प्रशिष्य वसुनन्दि १२ वीं शताब्दी के हैं। आचार्य उग्रादित्यजी अपने गुरु श्रीनन्दि के नामोल्लेख के साथ साथ इनके गण गच्छादि की भी चर्चा कर गये होते तो आपके बारे में बहुत कुछ ऊहापोह करने की गुंजायश होती पर ऐसा नहीं होने से हमारे उग्रादित्य जी के श्रीनन्दि यों ही सन्देहास्पद बने रहते हैं। इन्हीं साधनों के अभाव से उग्रादित्य जी के विषय में भी कुछ नहीं लिखा जा सकता।

उल्लिखित ५१ वें श्लोक से यह भी विदित होता है कि उग्रादित्य के गुरु श्रीनन्दि जी का राजा विष्णुराज परमेश्वर बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। पर ज्ञात नहीं कि यह विष्णुराज कौन हैं।

उग्रादित्य जी ने “ वेङ्गोशत्रिकलिङ्गदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः ” इत्यादि श्लोक में यह दर्साया है कि त्रिकलिङ्ग-देश में राम-गिरि पर्वत के ऊपर जिनमन्दिर में समस्त प्राणियों के हितार्थ यह ग्रन्थ रचा गया। ‘हिन्दीविश्वकोष’ के विज्ञ सम्पादक के मत में “ त्रिकलिङ्ग-जनपद (देश) मद्राज के उत्तर पलिकट नामक स्थान से लेकर उत्तर गंजाम और पश्चिम में त्रिपति, बेल्लारि, करनूल, विदर तथा चन्द्रा तक विस्तृत है ”। परन्तु श्रीयुत नन्दूलाल दे, एम० ए० बी० एल० अपनी “ The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India ” नामक कोष में मध्य-भारत का त्रिकलिङ्ग मानते हैं। मुझे दे महोदय का मत ही युक्ति-युक्त जँचता है। इसका कारण यह कि विश्वकोष के सम्पादक श्रीयुत नगेन्द्रनाथ वसु और उक्त भौगोलिक कोष के सम्पादक श्रीयुत नन्दूलाल दे दोनों महाशयों ने मध्य प्रान्तीय नागपुर से २४ मील उत्तर विद्यमान रामटेक का ही प्रसिद्ध प्राचीन रामगिरि माना है। हाँ हिन्दी-विश्वकोष में मैसूर राज्यस्थ बेङ्गलूर जिला में भी एक रामगिरि लिखा मिलता है अवश्य, मगर यह रामगिरि हिन्दी-विश्वकोष के मान्य सम्पादक के द्वारा प्रतिपादित त्रिकलिङ्ग देश के अन्तर्गत नहीं आता। इस लिये इन उल्लिखित प्रमाणों के आधार पर यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि कल्याण-कारक के कर्त्ता उग्रादित्याचार्य के द्वारा निर्दिष्ट त्रिकलिङ्ग वर्त्तमान मध्य-प्रान्त एवं तदन्तर्गत रामगिरि, नागपुर से २४ मील उत्तर अवस्थित रामटेक ही है। आज भी यहाँ पर पहाड़ी के नीचे कुछ प्राचीन दिगम्बर जैनमन्दिर मौजूद हैं। दिगम्बर जैन प्राचीन काल से ही इस स्थान का एक पवित्र क्षेत्र मानते आ रहे हैं। बहुत कुछ संभव है कि उग्रादित्य जी

ने इसी सुसिद्ध प्राचीन क्षेत्र को अपने ग्रन्थ-प्रणयन का एक प्रशान्त एवं पुनीत निवासोप-युक्त स्थान समझा है।

कभी कभी यह बात भी ध्यान में आ जाती है कि उग्रादित्यजी के गुरु श्रीनन्दि के परम भक्त उपर्युक्त विष्णुराज परमेश्वर शायद कलचूरि राजवंश के हों। क्योंकि यह कलचूरि राजवंश मध्यप्रान्त का सबसे बड़ा राजवंश था और इसका प्राबल्य ८ वीं ६ मी शताब्दी में बहुत बढ़ा चढ़ा था। एक समय यह साम्राज्य बंगाल से गुजरात एवं बनारस से कर्नाटक तक फैल गया था। किन्तु बहुत दिनों तक इसका अस्तित्व नहीं रह सका। कलचूरि नरेशों में बहुतेरे नरेश जैनधर्म के प्रधान पृष्ठपोषक थे। साथ ही साथ कितने ही कलचूरि शासकों ने अपने को त्रिकलिङ्गाधिपति कहा है। कलचूरि नरेशों का जैन धर्मावलम्बी होना एवं अपने को त्रिकलिङ्गाधिपति कहना ये दोनों उग्रादित्याचार्य के द्वारा कल्याणकारक में वर्णित विष्णुराज परमेश्वर के कलचूरि राजवंशीय सिद्ध करने में अवश्य सहायक हैं। हाँ, इस समय मेरे सामने मध्यप्रान्त में शासन करनेवाले भिन्न भिन्न राजाओं की वंश-तालिका नहीं रहने के कारण विष्णुराज परमेश्वर को निश्चित रूप से कलचूरि राजवंशीय लिखने से विरत होना पड़ता है।

उग्रादित्य जी ने अपने इस कल्याणकारक में निम्नलिखित आचार्यों के नाम लिये हैं :—

(१) पूज्यपाद (२) पात्रस्वामी (संभवतः पात्रकेशरी) (३) सिद्धसेन (४) दशरथ गुरु* (५) मेघनाद (६) सिंहनाद (७) समन्तभद्र। इनके अतिरिक्त आपने इस ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रयोगों में यत्र-तत्र निम्नलिखित आचार्यों के दृष्टान्तरूप से वैद्यक-सम्बन्धी मत दर्साया है :—

(१) श्रुतकीर्त्ति (२) कुमारसेन (३) वीरसेन (४) जटाचार्य। इन में पूज्यपाद, सिद्धसेन, समन्तभद्र, श्रुतकीर्त्ति, कुमारसेन, वीरसेन, जटाचार्य ये प्रसिद्ध आचार्यों में हैं। पात्रस्वामी प्रायः प्रख्यात पात्रकेशरी हों। अब रहे उल्लिखित मेघनाद एवं सिंहनाद। ये नाम तो मेरे लिये अपरिचित से ज्ञात होते हैं।

जैनवैद्यक शास्त्र बारहवें प्राणावायुपूर्व से प्रादुर्भूत माना जाता है। अन्तिम पद्य से यह भी ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ अन्यान्य वैद्यशास्त्र के मर्मज्ञ पूर्व जैनाचार्यों के वैद्यक-ग्रन्थों का आश्रय लेकर ही प्रणीत हुआ है। वैदिक मतावलम्बी विद्वानों ने वैद्यशब्द की निष्पत्ति वेद से की है, पर उग्रादित्य जी केवलज्ञानरूपी विद्या से मानते हैं यह एक

* सेनगण के आचार्य वीरसेन के शिष्य एक दशरथ हुए हैं। (भास्कर भाग १, किरण १, पृष्ठ ४४)

विशेषता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम जो कल्याणकारक रक्खा है वह वैद्यक शास्त्र के लोककल्याणसम्पादक इस अनुत्तम ध्येय का विवेचन करके ही रक्खा है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में आप जैनवैद्यक शास्त्र की प्राचीनता, वैद्यकशास्त्र की व्युत्पत्ति, इसका उद्देश, चिकित्सा का प्रयोजन आदि विषयों पर भी प्रकाश डालने से विरत नहीं हुए हैं। प्रशस्तिगत श्लोक से ज्ञात होता है कि आचार्य पूज्यपाद जी ने शालाक्य, शिरोभेदन आदि, पातस्वामी आचार्य ने शल्यतन्त्र, आचार्य सिद्धसेन जी ने विष एवं ग्रह-शान्ति-विधान, आचार्य दशरथ गुरुजी और मैघनाद जी ने शारीरिक चिकित्सा, सिंहनाद जी ने महारोग-शान्ति-विधान एवं आचार्य समन्तभद्र जी ने अष्टाङ्ग आयुर्वेद का प्रणयन किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त औषधकल्प, सिद्धान्त रसायनकल्प, भिषक्प्रकाश, जगत्सुन्दरी, कनक दीपक, रससार, सिद्धनागार्जुनकल्प, रसतन्त्र तथा मेरुतन्त्र आदि कई संस्कृत वैद्यक ग्रन्थों का उल्लेख एवं कुछ ग्रन्थों का अंश यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। किन्तु खेद की बात है इन समुज्ज्वल जैनसाहित्य रत्नों की खोज एवं प्रकाशन की ओर अभीतक जैनसमाज का ध्यान नहीं गया है। कन्नड साहित्य में भी सोमनाथ के कल्याणकारक, पार्श्वदेव की सुकरयोगरत्नावलि, चालुक्यवंशीय कीर्त्तिवर्मा के गोवैद्य, मंगराज के खगेन्द्रमणिदर्पण, अभिनवचन्द्र के हयशास्त्र, देवेन्द्र मुनि की बालग्रह-चिकित्सा, अमृतनन्दि मुनि का अकारादि वैद्यनिघण्टु एवं श्रीधरदेव के वैद्यामृत के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। बड़े हर्ष से यह कहने का सौभाग्य प्राप्त होता है कि उक्त इन ग्रन्थों में से आचार्य उग्रादित्य कृत यह कल्याणकारक सोलापुर के जिनवाणी के अनन्यभक्त सेठ रावजी सखाराम दोशी जी के सदुद्योग से एवं खगेन्द्रमणिदर्पण मद्रास के विश्वविद्यालय के ग्रन्थप्रकाशन विभाग से प्रकाशित हो रहे हैं।

साधनाभाव से उग्रादित्य के समय का पता लगाना असम्भव सा हो रहा है। इनके गुरु श्रीनन्दि और विष्णुराज परमेश्वर के विषय में कुछ पता लगने से इनके समय-निर्णय करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। हाँ, श्रुतकीर्त्ति और कुमार सेन का नाम जो आपने प्रशस्ति में लिया है सो उनका भी कुछ पता नहीं है—कहीं इनके गणा-गच्छ एवं गुरुपरम्परा की बातें जरा भी ज्ञात हो जातीं तो भी उग्रादित्य जी के समय-सम्बन्धी प्रश्न का थोड़ा बहुत हल हो जाने की सम्भावना थी। क्योंकि एक नाम के अनेक जैनाचार्य हो गये हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक श्रुतकीर्त्ति आदि ही हैं। श्रवणबेल्लोल के निम्न लिखित शिलालेखों में श्रुतकीर्त्ति के नाम कई जगह आते हैं। जैसे ४०, १०५ और १०८ में। इनका समय क्रमशः शकसम्बत् १०८५, १३२० और १३५५ है। इसी प्रकार कुमारसेन का नाम ५४ एवं ४६३ के शिलालेखों में आता है और इनका

तिलोयपराणी

विशेषता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम जो कल्याणकारक रक्खा है वह वैद्यक शास्त्र के लोककल्याणसम्पादक इस अनुत्तम ध्येय का विवेचन करके ही रक्खा है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में आप जैनवैद्यक शास्त्र की प्राचीनता, वैद्यकशास्त्र की व्युत्पत्ति, इसका उद्देश, चिकित्सा का प्रयोजन आदि विषयों पर भी प्रकाश डालने से विरत नहीं हुए हैं। प्रशस्तिगत श्लोक से ज्ञात होता है कि आचार्य पूज्यपाद जी ने शालाक्य, शिरोभेदन आदि, पात्रस्वामी आचार्य ने शल्यतन्त्र, आचार्य सिद्धसेन जी ने विष एवं ग्रह-शान्ति-विधान, आचार्य दशरथ गुरुजी और मेघनाद जी ने शारीरिक चिकित्सा, सिंहनाद जी ने महारोग-शान्ति-विधान एवं आचार्य समन्तभद्र जी ने अष्टाङ्ग आयुर्वेद का प्रणयन किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त औषधकल्प, सिद्धान्त रसायनकल्प, भिषक्प्रकाश, जगत्सुन्दरी, कनक दीपक, रससार, सिद्धनागार्जुनकल्प, रसतन्त्र तथा मेरुतन्त्र आदि कई संस्कृत वैद्यक ग्रन्थों का उल्लेख एवं कुछ ग्रन्थों का अंश यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। किन्तु खेद की बात है इन समुज्ज्वल जैनसाहित्य रत्नों की खोज एवं प्रकाशन की ओर अभी तक जैनसमाज का ध्यान नहीं गया है। कन्नड साहित्य में भी सोमनाथ के कल्याणकारक, पार्श्वदेव की सुकरयोगरत्नावलि, चालुक्यवंशीय कीर्तिवर्मा के गोवैद्य, मंगराज के खगेन्द्रमणिदर्पण, अभिनवचन्द्र के हयशास्त्र, देवेन्द्र मुनि की बालग्रह-चिकित्सा, अमृतनन्दि मुनि का अकारादि वैद्यनिघण्टु एवं श्रीधरदेव के वैद्यामृत के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। बड़े हर्ष से यह कहने का सौभाग्य प्राप्त होता है कि उक्त इन ग्रन्थों में से आचार्य उग्रादित्य कृत यह कल्याणकारक सोलापुर के जिनवाणी के अनन्यभक्त सेठ रावजी सखाराम दोशी जी के सदुद्योग से एवं खगेन्द्रमणिदर्पण मद्रास के विश्वविद्यालय के ग्रन्थप्रकाशन विभाग से प्रकाशित हो रहे हैं।

साधनाभाव से उग्रादित्य के समय का पता लगाना असम्भव सा हो रहा है। इनके गुरु श्रीनन्दि और विष्णुराज परमेश्वर के विषय में कुछ पता लगने से इनके समय-निर्णय करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। हाँ, श्रुतकीर्ति और कुमार सेन का नाम जो आपने प्रशस्ति में लिया है सो उनका भी कुछ पता नहीं है—कहीं इनके गणा-गच्छ एवं गुरुपरम्परा की बातें जरा भी ज्ञात हो जातीं तो भी उग्रादित्य जी के समय-सम्बन्धी प्रश्न का थोड़ा बहुत हल हो जाने की सम्भावना थी। क्योंकि एक नाम के अनेक जैनाचार्य हो गये हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक श्रुतकीर्ति आदि ही हैं। श्रवणबेलगोल के निम्न लिखित शिलालेखों में श्रुतकीर्ति के नाम कई जगह आते हैं। जैसे ४०, १०५ और १०८ में। इनका समय क्रमशः शकसम्बत् १०८५, १३२० और १३५५ है। इसी प्रकार कुमारसेन का नाम ५४ एवं ४६३ के शिलालेखों में आता है और इनका

तिलोयपराणी

TILOYA-PANṆATTI OF JADIVASAHA

PREFACE

It is for the first time that the work Tiloya-panṇatti Sk. Triloka prajñaptiḥ is being edited here, in parts, in the pages of the Jaina Antiquary. Samantabhadra (c. 2nd century A. D.), in his Ratna-karaṇḍaka-śrāvakācāra (ii, 1-4), divides Jaina literature, according to the subject matter, under four heads. Prathamānuyoga, that deals with mythology, tradition and history; Karaṇānuyoga, that deals with calculatory sciences including local and transcendental geography; Caraṇānuyoga, that deals with ethics comprising rules of conduct for householders and monks; and lastly Dravyānuyoga, that deals with philosophy, metaphysics, ontology and other kindred topics. Tiloya-panṇatti belongs to the second group which, by the very nature of its subject, is not very popular, and is poorly represented in the galaxy of Jaina works. Sūrapanṇatti and Jambuddivapanṇatti of the Jaina canon belong to this group, as well as Tiloya-sāra of Nemicandra and the Sk. Loka-vibhāga of Simhasūri.

The author of Tiloya-panṇatti is Jadi-vasaha Sk. Yativṛṣabha of venerable antiquity. The date of the author, his place in Jaina hierarchy, the stratum of the Jaina literature to which this work belongs, the problem raised by the common verses in this work and other works of authors like Vaṭṭakera, Kundakunda, Jinabhadra, Nemicandra and others, the nature of the Prākṛta dialect used here and the various other akin discussions will be taken up in the Introduction after the text is completely edited.

The author has an admirable command over the Prākṛta language; his Prākṛta style is not hackneyed and Sanskrit-ridden as in the case of later Sk. dramatists. It appears that the Prākṛta was a living language of the day as indicated by such instances that the author uses, within a distance of half a dozen verses, three different forms of one and the same Sk. word; *uccheha*, *udiseha* and *usseha* for the Sk. *utsedha* (verses 107-10 below). Utmost care has been taken in constructing the text, and nowhere the agreement of the Mss. is set aside in the light of modern standards of later Pk. grammarians. It is no wonder then that forms like *totta* Sk. *stotra* (verse, 31) and *pāsa* Sk. *sparśa* (verse, 97), which have not been recognised by Pk. grammarians like Hemacandra, are seen here and there.

I have used three Mss. : *A.* a transcript from the Arrah Ms. (and after verse 120 it stands for Arrah Ms. itself), *B.* a Ms. from Bombay from Ailaka Pannālāl Sarasvatī Bhavana, and *S.* a Ms. from Sholapur—in preparing the present edition of *Tiloya-panṇatti*; their description in detail will be given later on. Only select and important readings have been given in foot-notes. Scribal errors, not uncommon in Jaina Mss., like the interchange of *j* and *b*, *c* and *t* and the promiscuous substitution of *y*, *c*, *p* and *m* have been ignored. Unlike the Mss. of the Jaina canon in *Ardhamāgadhī*, these Mss. are uniform in preferring cerebral nasal to dental one, irrespective of the position of the letter in a word, whether single or conjunct. As to important dialectal features like the present-tense third person singular termination, I have retained *i* when all the Mss. agree, and in case they differ I have preferred *di* which is a normal feature in majority of cases in this work. With respect to *ya-śruti* the agreement of the Mss. is accepted even against the convention—of course not without an exception—formulated by Hemacandra (VIII, i, 180.) For typographical convenience no distinction is made between an *anusvāra* and an *anunāsika*, and this can be easily detected by a little familiarity with the flow of the gāthā verse. In cases of euphonic *anusvāra* (Hema. VIII, i, 26,) and an euphonic conjunct following a letter, two words have been written together, though *tti* is separately shown.

Faithful and intelligent record of the text-tradition as preserved in different Mss. has been my guiding principle throughout. The task of collation and of settling the text is always difficult in *Prākṛta* works, and more so, when the subject matter of the work is obscure, the Ms. material meagre and defective, and the nature of the dialect uncertain. In a few cases I have emended the text according to my humble discretion, but always I have given below the readings preserved in the Mss. Sometimes such emendations are suggested, with a question mark, in foot-notes whenever a particular reading was accepted by all the Mss. and was ordinarily plausible but yet in need of a slight change in view of the accepted Pk. phonetic laws and grammatic necessity.

In the absence of any Sk. commentary, a shade, marginal gloss or more accurate Mss. many knotty passages have remained without being confidently and correctly understood by me; and nobody can be more conscious than this humble editor about the tentative character of the text presented here.

A. N. UPADHYE.



जद्विसहाइरिय-विरइदा

तिलोयपण्णात्ती

अट्टविहकम्मवियला णिट्टियकज्जा पणट्ट¹ संसारा ।
 दिट्टसयलट्टसारा² सिद्धा सिद्धि मम विसंतु ॥१॥
 घणघाइकम्ममहणा तिहुवणवरभव्वकमलमत्तंडा ।
 अरिहा अणंतणोणा³ अणुवमसोक्खा जयंतु जप ॥२॥
 पंचमहव्वयटुंगा तक्कालियसपरसमयसुद्धारा ।
 णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ॥३॥
 अण्णाणघोरतिमिर⁴ दुरंततीरांभ्ह हिंडमाण्णां ।
 भवियाणुज्जोययरा उवज्झया⁵ वरमदिं देंतु⁶ ॥४॥
 थिरधरिय⁷ सीलमाला ववगयराया जसोदपडहत्था ।
 बहुविणयभूसियंगा सुहाइं साह पयच्छंतु ॥५॥
 एवं वरपंचगुरु तियरणसुद्धेण णमंसिऊण हं⁸ ।
 भव्वजणाण पदीवं वोच्छामि तिलोयपण्णत्ति ॥६॥
 मंगलकारणहेदू सत्थं सपमाणणामकत्तारा ।
 पढमं चिय⁹ कहिद्ववा एसा आइरियपरिभासा ॥७॥
 पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्वखेमकल्लाणा ।
 सुहसोवखादी सव्वे णिदिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥
 गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।
 विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥९॥
 दोण्णि वियप्पा हंति हु मलस्स इमं दव्वभावमेयहिं ।
 दव्वमलं दुविहण्णं बाहिरमभंतं¹⁰ चेय ॥१०॥
 सेदमल्लेणुकदमपहुदी बाहिरमलस्समुद्धिदं ।
 पुण्ण दिदजीवपदेसे णिबंधरूवाइ पयडिठिदिआई¹¹ ॥११॥

I S य णट्ट; 2 BS सयलत्थ; 3 BS णाणे; 4 S तिमिरं; 5 A उवज्झया; 6 AB दिंतु;
 7 S सिला, AB सोला; 8 AB णमंसिऊणाहं; 9 S वि य; 10 AS अज्झंतं; 11 AB आई ।

अणुभागपदेसाइं^१ चउहिं पत्तेकभेज्जमाणं^२ तु ।
 णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं ॥१२॥
 अग्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिवद्धमिदि^३ हेदो ।
 भावमलं णादव्वं अणाणदंसणादिपरिणामो ॥१३॥
 अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादिदव्वभावमलभेदा ।
 ताइं गालेदि^४ पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं ॥१४॥
 अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेहेदि मंगलं तम्हा ।
 पदाण कज्जसिद्धिं मंगलगत्थेदि गंथकत्तारो ॥१५॥
 पुव्वं आइरिणहिं मंगलपुव्वं च वाचिदं भणिदं ।
 तं लादि हु आदत्ते^५ जदो तदो मंगलप्पवरं ॥१६॥
 पावं मलं ति भण्णदि उवचारसरूवण जीवाणं ।
 तं गालेदि विणासं येदि ति भणंति मंगलं केइ ॥१७॥
 णामणिट्ठावणा दो दव्वखेत्ताणि कालभावा य ।
 इय क्खमेयं भणियं मंगलमाणंदसंजणं ॥१८॥
 अरहाणं सिद्धाणं आइरियउवउभायाइसाहणं ।
 णामाइं णाममंगलमुदिदं वीयरापहिं ॥१९॥
 ठवणदंगलमेदं अकट्ठिमाकट्ठिमाणि जिणविन्ना ।
 सूरिउवउभयसाहदेहाणि^६ हु दव्वमंगलयं ॥२०॥
 गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स ।
 उप्पत्ती इयपहुदी बहुभेयं खेत्तमंगलयं ॥२१॥
 पदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतत्तंपादी ।
 आउट्ठहत्थपहुदी पणुवीसग्भहियपणसयधण्णि ॥२२॥
 देहअवट्ठिदकेवलणाणावट्ठद्वगयणदेसो वा ।
 सेढीघणमेत्त^७ अण्णपदेसगद^८ लोयपूरणं पुण्णं^९ ॥२३॥
 विण्णासं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ।
 जस्सि काले केवलणाणादिमंगलं पारणमदि^{१०} ॥२४॥
 परिणिक्कमणं केवलणाणुभवाणव्बुदिपवेसादी ।
 पावमलगालणादो पणत्तं कालमंगलं पदं ॥२५॥

१ S भाव; २ BS भेदमाणां; ३ BS णिवध; ४ AB गालेइ; ५ B आदत्ते; ६ A उवउभाय;
 ७ AB मित्त; ८ B गदं, S जदं; ९ S लोयपूरणा पुण्णा; १० ABS परिणमति ।

एवं अण्येयभेयं हवेदि तक्कालमंगलं पवरं ।
 जिणमहिमासंबंधं णंदीसरदीवपहुदीओ ॥२६॥
 मंगलपज्जाएहिं उवलक्खियजीवदव्वमेत्तं च ।
 भावं मंगलमेदं ^१पव्वियसत्थादिमज्झयंतेसु ^२(?) ॥२७॥
 पुव्विल्लाहरिण्हिं उत्तो संठाणमंगलं घोसो ।
 आइस्मि ^३मज्झअवसाणे य सुणियमेण कायव्वो ॥२८॥
 पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होति ।
 मज्झिम्मे णिविग्गं ^४विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥२९॥
 णासदि विग्गं भेददि यंहे दुट्ठसुवाण ^५लंघंति ।
 इट्ठो लट्ठो लब्भइ जिणणामंगहणमेत्तेण ॥३०॥
 सत्थादिमज्झअवसाणएसु ^६जिणतोत्तमंगलुच्चारो ।
 णासइ णिस्सेसाइं विग्गाइं रवि वं तिमिराइं ॥३१॥
 इदि मंगलगदं

विविहवियणं लोगं बहुभेयपमाणदो भव्वा ।
 जाणंति त्ति णिमित्तं कहिदं गंथावतारस्स ॥३२॥
 केवलणाणदिवायरकिरणकलावाटु यत्थअवहारे ।
 गणधरदेवें ^७गंथुप्पत्ति हु सोहंति संजादो ^८(?) ॥३३॥
 छद्वणवपयत्थे सुदणाणंदुमणिकिरणसत्तीप ।
 देक्खंतु भव्वजीवा अण्णाणतमेण सच्छण्णा ॥३४॥
 णिमित्तं गदं

दुविहो हवेदि हेदू तिलोयपणत्तिगंथयज्झयणो ।
 जिणवरवयणुहिट्ठो पच्चक्खपरोक्खभेपहिं ॥३५॥
 सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि ^९होदि पच्चक्खा ।
 अण्णाणस्स ^{१०}विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती ॥३६॥
 देवमणुस्सादी ह सत्ततमग्गच्चणप्पयाराणी ।
 पडिसमयमसंखेज्ज य गुणसेढिकम्मणिज्जरणं ॥३७॥
 इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्खपरं परं च णादव्वं ।
 सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमग्गच्चणपयारं ॥३८॥

१ पस्थि(डि)यउ ; २ S पच्छादि for सत्थादि ३ ABS अइमि ; ४ BS णीविग्गं ; ५ S ताणलं ;
 ६ AB सुजिणुत्तोत्त ; ७ S देहे ; ८ AB सो ज.दो ; ९ ABS दोन्नि ; १० AS अण्णाणस्स ।

दोभेदं च परोक्खं अभुदय^१ सोक्खा^२ मोक्खसोक्खाइं ।
 सादादिविविह^३ सुपसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदयहिं ॥३६॥
 इदपडिंददिगिंदयतेत्तीससायरपमाणपहुदिसुहं^४ ।
 राजाहिराजमहाराजद्ध^५ मंडलिमंडलयाणं ॥४०॥
 महमंडलियाणं अद्धचक्किचक्कहरि^६ तित्थयरसोक्खं ।
 अट्टारसमेत्ताणं सामीसेणेण भत्तिजुत्ताणं^७ ॥४१॥
 बररयणमउडधारी सेवयमाणा णवन्ति दह^८ अट्ठं ।
 देता हवेदि राजा जितसत्तू समरसंगट्ठे ॥४२॥
 करितुरयरहोहिबई सेणवइ^९ पदंतिसेट्ठिदंडवई ।
 सुदक्खत्तियवइसा हवन्ति तह महयरा पवरा ॥४३॥
 गणरायमंतितलवरपुरोडिया मंतया महामंता ।
 बडुविहपइण्णया यं अट्टारसा होंति सेणे(णा ?)ओ ॥४४॥
 पंचसयरायसामो अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो ।
 रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महाराजो ॥४५॥
 दुसहस्समउड^{१०} बद्धभुववसहो तच्चअद्धमंडलिओ ।
 चउराजसहस्साणं अहिणाउ^{१०} होइ मंडलियं ॥४६॥
 मइमंडलिओ णामो अ सहस्साण अडिबई ताणं ।
 रायाणं अद्धचक्की सामी सोलससहस्समेत्ताणं ॥४७॥
 क्कखंडभरइणाहो बन्नीससहस्सम डबद्धपहुदीओ ।
 होदि हु सयलं की तित्थयरो सयलभुवणवई ॥४८॥

अभुदयसोक्खं गदं

सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदियादीदं ।
 अतिसयमादसमुत्थं णिस्सेयसमणुवमं पवरं ॥४९॥

मोक्खसोक्खं गदं

सुदणाणभावणाए णाणं^{११} मत्तंडकिरणउज्जोओ^{१२} ।
 आदं चंदुज्जलं चरित्तं चित्तं हवेदि भव्वाणं ॥५०॥

१ S अभुदय; २ AS सुपरसत्थ; ३ S तेत्तीसामरसमाण; ४ A मंडलि; ५ ABS तित्थयरय;
 ६ AS भंति; ७ S अट्ठं; ८ S य मंति, why n t पदंति; ९ S बद्धासेवसहो; १० अदि-
 णाम (?); ११ A णाणमत्तंड; १२ AS उज्जोउ ।

कणयधराधरधीरं मूढत्तयविरहिदं हयगमेलं ।
जायदि पवयणपदणे सम्मदंसणमणुवमं णं^१ ॥५१॥
सुरखेयरमणुवाणां लब्धंति सुहाइ आरिसंभासा^२ ।
तत्तो णिव्वाणसुहं णिण्णासिदधातु^३णद्धमलं ॥५२॥

हेदु गदं

विविहत्थेहि अणंतं संखेज्जं अक्खराण गणणाव ।
एदं पमाणमुदिदं सिस्साणं मइविकासयरं ॥५३॥

पमाणं गदं

भवणा जेण एसा तेलोक्कपयासणे परमदीवा ।
तेण गुणणाममुदिदं तिलोयपणत्तिणामेण^४ ॥५४॥

णाम गदं

कत्तारो दुवियप्पो णादब्बो अत्थगंधभेदेहि ।
दब्बादिचउपयारेहि भासिमो^५ अत्थकत्तारो ॥५५॥
सेदरजाइमलेण रत्तच्छिक्कदुक्खबाणमोक्खेहि^६ ।
इयपहुदिदेहदोसेहि संततमदूसिदसरीरो ॥५६॥
आदिमसंहणणजुदो समचउरस्संगचाहसंठोणो ।
दिव्ववरगंधधारी पमाणठिदरो(?)^७ मणुवरूवो ॥५७॥
णिम्भूसणायुधंवरभीदी^८ सोम्माणणादिदिव्वतणू^९ ।
अठ्ठभाहियसहस्सप्पमाणवरलक्खणोपेदो ॥५८॥
चउविहउवसग्गेहि णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो ।
छुहपहुदिपरिसेहेहि परिचत्तो रायदोसेहि ॥५९॥
जोयणपमाणासंठिदतिरियामरमणुवनिवहपडिबोहो ।
मिदुमधुरगभीरतरा^{१०} विसदविसयसयलभासाहि ॥६०॥
अट्ठरसमइभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा ।
अक्खरअणक्खरप्पयसण्णी जीवाण सयलभासाओ ॥६१॥

1 B खुवमाणं; 2 A पारसंभासा; 3 णिद्ध (?); 4 s omits this gāthā; 5 s भासेमो;
6 s रत्तथिक्क; 7 AB विदोर; 8 ABS युधांबर; 9 BS तिव्वत्तूणू; 10 A विसदसंग, B विसद-
यसम, s विसदविसय ।

एदासि भासाणं तालुवदंतोद्वकंठवावारं ।
 परिहरिय एककालं भवजणाणंदकरभासो ॥६२॥
 भावणवेंतरजोइसियकप्पवासेहिं केसवबलेहिं ।
 विज्जाहरेहिं चक्किप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिपहिं ॥६३॥
 एदेहिं अण्णेहिं विरचिदचरणारविंदजुगपूजो ।
 दिट्ठसयलट्ठसारो महवीरो अत्थकत्तारो ॥६४॥
 सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि ।
 बिउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणे अट्ठकत्तारो ॥६५॥
 चउरस्सो पुव्वण सिरिसेलो दाहिणाए वेभारो ।
 णइरिदिदिसाए विउलो दोणिण तिकोणट्ठिदायारा ॥६६॥
 चावसरिच्छो^१ छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेषु ।
 ईसाणाए पंडुवणादो^२ सव्वे कुसंगपरियरणा ॥६७॥
 एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि ।
 तेत्तीसवासअडमासपणरसदिवससेसग्गि ॥६८॥
 वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए ।
 अभिजीणकलत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतिथस्स ॥६९॥
 सावणबहुले पाडिब^३ सुदमुदुत्ते सुहोदण^४ रविणो ।
 अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ॥७०॥
 णाणावरणप्पहुदिअणिच्छयववहारपायअतिसयए (?) ।
 संजादेण अणंतंणाणेण^५ दंसणमुहेहिं ॥७१॥
 विरिणण तथा खाइयसम्मत्तेणं पि दणलाहेहिं ।
 भोगोपभोगणिच्छयववहारेहिं च परपुण्णो^६ ॥७२॥
 दंसणमेहे णट्ठे घादित्तिदए चरित्तमोहम्मि ।
 सम्मत्तणाणदंसणवीरियचरियाइ हांति खइयाइ ॥७३॥
 जादे अणंतंणाणे णट्ठे^७ चदुमट्ठिदिदम्मि णाणम्मि ।
 णवविहपदत्थसारा दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थं ॥७४॥
 अण्णेहिं अणंतेहिं गुणेहिं जुत्तो विसुद्धचारित्तो ।
 भवभयभंजणदच्छे महवीरो अत्थकत्तारो ॥७५॥

I A सरिस्सो; 2 AB पंडुवण; 3 S रुह; 4 AB सुहोदिए; 5 S अणते; 7 परिपुण्णो(?);
 8 छदुमट्ठिदियम्मि(?);

श्रो-पूज्यपाद-कृत—

वैद्य-सार

(अनुवादक—गण्डित सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

(क्रमागत)

७३—स्फोटदौ त्रिलोक-चूडामणिभूः

पारदं टंकणं तुत्थं विषं लांगुलिकं तथा ।
पुत्रजीवस्य मज्जानि गन्धकं कर्षमात्रया ॥१॥
देवदाल्या रसैर्मर्द्यः त्रिशूलोरसमर्दितः ।
भावग्रोऽन्यान्यदिने एष बटवीजप्रमाणकः ।
जंबीररसतो ग्राह्यः पानलेपनस्य मे ॥३॥
अञ्जने सर्वकार्ये वा कालस्फोटमहाविषं ।
कक्षग्रंथि गलग्रंथि कटिग्रंथि-महारसं ॥४॥
स्फोटानां तु शतं रोगज्वरज्वालाशताकुलं ।
ब्रह्मराक्षस-भूतादि-शाकिनी-डाकिनी-गण ॥५॥
कालव्रजमहादेवीमदमातंगकेशरि—
वृषभादिजिनं स्थाप्य ?) श्रोदेवीश्वरसूरिणं ॥६॥
कथितोऽयं त्रिलोकस्य चूडामणिमहारसः ।
पूज्यपादेन कृतिना सर्वमृत्युबिनाशनः ॥७॥
पार्श्वनाथस्य स्तोत्रेण स्तंभं कृत्वा तु तत्क्षणात् ।

टीका—शुद्ध पारा, सुहागे का फूला, तुत्थ भस्म, शुद्ध विषनाग, शुद्ध लांगली (कलि-हारी विष), पुत्रजीवक की मज्जा तथा शुद्ध गन्धक ये सब एक एक तोला लेकर सब को एकत्रित कर देवदाली (?) के रस से तथा त्रिशूली (शिवलिङ्गी) के रस, विष्णुकांता के रस, नागदन्ती के रस तथा धतूरे के रस से और नागकेशर के काढ़े से अलग अलग एक एक दिन भावना देवे और बट के बीज के समान गोली बांधे तथा जंबीरी नीबू के रस से पान करने में, नस्य लेने में तथा लेप करने और अञ्जन एवं और भी अनेक कर्मों में प्रयोग करना चाहिए । महा विषैला कालस्फोट तथा कांख की ग्रन्थि, गले की ग्रन्थि, कमर की

प्रणिय और अनेक प्रकार के व्रणों पर लेप करने से लाभ होता है। इस रस को योग्य अनुपान के द्वारा खाने से महा भयानक ज्वर में भी लाभ होता है। इस रस का सेवन ब्रह्मराक्षस, भूत, डांकिनी, शाकिनी वगैरह के स्वामी श्रीजिनेन्द्र का स्थापन कर पूजन करके तथा श्रीपार्श्वनाथ स्वामी का स्मरण कर इस रस के सेवन करने से उसी समय सम्पूर्ण रोग शांत हो जाते हैं। यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

७४—रक्तपित्तादौ चन्द्रकलाधररसः

रसकं गंधकं ताम्रं काशीसं शीसमैव च ।

वंगशिलाजतुयष्टिचैलालामज्जकं समं ॥१॥

नालिकेरं च कूष्मांडं रंभाजेत्तुरसेन च ।

पंचवलकलक्वाथेन द्वाविंशत्भावनां ददेत् ॥२॥

नालिकेररसेनैव दद्याद्वल्लं सशर्करं ।

पथ्यं च लाजसंसिद्धं शमयेत्तृङ्गदान् ज्वरान् ॥३॥

रक्तपित्ताम्लपित्तं च सोमं पाण्डुं च कामलां ।

पूज्यपादेन कथितः रसश्चन्द्र कलाधरः ॥४॥

टीका—शुद्ध खपरिया, शुद्ध गंधक, तामे की भस्म, काशीस की भस्म, शीसे की भस्म, वंग की भस्म, शुद्ध शिलाजीत, मुलहठी, छोटी इलायची, लज्जतु के बीज, ये सब औषधियां बराबर बराबर लेवे और इन सब को एकत्रित करके नारियल, कूष्मांड (पेठे), केले के तथा गन्ने के जल से पञ्च बलकल वृक्ष (बड़, ऊमर, पीपल, पाकर और कठऊमर) के काढ़े से सब मिला कर ३२ भावना देवे और सुखा कर रख लेवे। यह रस नारियल के पानी के साथ ३ रत्ती चीनी मिला कर देने से पिपासा आदि ज्वर बीमारियों को, रक्तपित्त, अम्लपित्त, सोमरोग, और पीलिया आदि गरमी के रोगों को शान्त करता है यहां पर धान की खील का पथ्य देना चाहिये।

७५—विषमज्वरे चन्द्रकांतरसः

कर्षं शुद्धरसत्वस्य द्विमासे चाम्लविद्रुते ।

निक्षिपेन्मर्दयेत्खल्वे षण्णिष्कं शुद्धगंधकं ॥१॥

तुत्थांकोलकुणीबीजं शिलातालं चतुश्चतुः ।

तत्समं मृतलौहस्य निष्कौ द्वौ टंकणस्य च ॥२॥

तत्समं कुटकोनीलं बराटांजनविंशति ।
 निष्कृत्यं सितं योज्यं सर्वं चोक्तमनुक्रमात् ॥३॥
 शुभक्षणे शुभदिने खल्वमध्ये विमर्दयेत् ।
 चांगेरीभिश्च यामांस्त्रीन् जंबीराग्लैः दिनद्वयम् ॥४॥
 पुटं हस्तप्रमाणं तु वलुसंज्ञे तुषाग्निना ।
 जंबीरेश्च द्रवैरेव पिष्ट्वा-पिष्ट्वा पचेत्पुटे ॥५॥
 ततो वनोत्पलैरेव देयं गजपुटं महत् ।
 आदाय श्लक्ष्णचूर्णं तु चूर्णांशं शुद्धगंधकं ॥६॥
 तदर्धमरिचं ग्राह्यं तदर्धा पिप्पली मता ।
 तदर्धनागरो ग्राह्यः एकीकृत्य त्रिमासकं ॥७॥
 लेहयेन्माक्षिकैः सार्धं नागवल्लीदलस्थितं ।
 पथ्योऽस्ति याममात्रं तु चाभुक्ति विषमज्वरे ॥८॥
 चन्द्रकांतरसो नाम रसश्चन्द्रप्रभाकरः ।
 क्षयव्याधिविनाशश्च सर्वज्वरकुशंतकः ॥९॥
 एकमासप्रयोगेण देहचन्द्रप्रभाकरः ।
 कथितः व्याधिविध्वंसः पूज्यपादेन निर्मितः ॥१०॥

टीका—१ तोला शुद्ध पारा, दो मास तक खटाई में मर्दन करके निकाल लेवे, फिर खल में डाल कर १॥ तोला शुद्ध गन्धक तथा तूतिया की भस्म, अकोले के बीज, कुणी के बीज, शिलाजीत, कांतलौह की भस्म, ये सब एक एक तोला लेकर ६ मासे सुहागे का फूला तथा कुटकी, और शुद्ध विषनाग लेवे, और कौड़ी की भस्म, कृष्णांजन शुद्ध दोनों मिला कर २० तोला लेवे तथा तीन तोला मिसरी लेवे, इस प्रकार ऊपर कहे हुये परिमाण से सब औषधियों को लेकर शुभ मूहूर्त में, शुद्ध नक्षत्र में खल में डाल कर चांगेरी के रस से ३ पहर जंबीरी नीबू के रस से २ दिन मर्दन करे और ८ हाथ प्रमाण गहरे गड्ढे में तुषा की अग्नि से आंच देवे । इसी प्रकार जंबीरी नीबू के रस में घोंट कर आठ पुट देवे तथा एक महागज पुट देवे । इस प्रकार जब भस्म हो जाय तब वह भस्म तथा उसके बराबर शुद्ध गन्धक लेवे, एवं गंधक से आधा काली मिर्च का चूर्ण और काली मिर्च के चूर्ण से आधा पीपल का चूर्ण तथा पीपल से आधा सोंठ का चूर्ण लेकर सब को एकत्रित करके तीन तीन मासा पान का रस तथा शहद के साथ सेवन करे । विषमज्वर में भोजन नहीं करना यहो पथ्य है । यह चन्द्रकांत नाम का रस चन्द्रमा के समान कांति को देनेवाला तथा क्षय रूप व्याधि को नाश करनेवाला तथा

सम्पूर्ण ज्वरों को नाश करनेवाला एक माह तक सेवन करने से शरीर को काँति को कर्पूर के समान करनेवाला और अनेक व्याधि को नाश करनेवाला है। यह चन्द्रकांतरस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

७६—मूतकृच्छ्रादौ बंगेश्वररसः

रसवंगं सममादाय (?) द्वयोः कृत्वा च मेलनं ।
 कुमारीरससंयुक्तं दिनमेकं च मर्दयेत् ॥ १ ॥
 त्रिफलाकषाय-संयुक्तं त्रिदिनं मर्दयेत्तथा ।
 बालुकाग्रप्रयोगेन क्रमवृद्धेन वह्निना ॥ २ ॥
 मृदुमध्यदीप्तज्वालेन पर्पटी-यंत्रपाचिता ।
 अश्वगंधामृताविश्वमौचारसशतावरी ॥ ३ ॥
 गोलुरकर्कटाख्यौ च वाराही कंदमागधी ।
 त्रिफला कर्कटीचैव यष्टीचमधुका समा ॥ ४ ॥
 समांशं सितया मिश्रं भुंजीत निष्कमात्रकम् ।
 रसो बंगेश्वरो नाम तवत्तोरण सह लिहेत् ॥ ५ ॥
 प्रातःकाले च पीयूषलवणाग्रे च वर्जयेत् ।
 मूत्रकृच्छ्रं च बहुमूत्रं रक्तशुक्रप्रमेहकं ॥ ६ ॥
 मधुप्रमेह-दौर्बल्ये नष्टलिंगं तथैव च ।
 सर्वप्रमेहशांत्यर्थं बंगेश्वररसः स्मृतः ॥ ७ ॥
 अन्नं तु पंचरात्रेण दशरात्रेण दुग्धकम् ।
 दधि विंशतिरात्रेण घृतं मासेन जोर्यति ॥ ८ ॥
 एतद्बंगेश्वरो नाम सर्वयोगेषु चोत्तमः ।
 सर्व-रोगनिकृत्त्यर्थं पूज्यपादेन भाषितः ॥ ९ ॥

टीका—शुद्ध पारा तथा वंग दोनों को बराबर मिला कर घं कुवार के रस में बराबर एक दिन तथा त्रिफला के काढ़े में ३ दिन तक मर्दन करे तब सुखा और शीशी में भर कर बालुकाग्रंत् से क्रमपूर्वक मृदु, मध्यम, तीव्र आंच देवे। जब बालुका रंत् की शीशी में पर्पटी के समान बन जाय तब निकाल कर असगंध शतावर, गुर्च, सोंठ सेमल का कंद गोखुरू, बांझ-ककोड़ा, वाराही कंद, पीपल, त्रिफला, कोंब के बीज तथा मुलहठी इन सब का चूर्ण बना कर इसके समान मिश्री मिलाकर तवाखीर के साथ सेवन करे तो इससे नीचे लिखे रोग शांत होवें। इसे प्रातः काल खाना चाहिए। किन्तु

नमक और आम न खाये । इसके सेवन से मूत्रकृच्छ्र, तथा बहुमूत्र, रक्त प्रमेह, शुक्रप्रमेह, मधुप्रमेह, दुर्बलता एवं इन्द्रिय की कमजोरी शांत हो जाती है । सब प्रकार के प्रमेहों को शांत करने के लिये यह विंशेश्वर रस उत्तम है । इसके सेवन करने से पांच दिन में अन्न, दश दिन में दूध, बीस दिन में दही, तथा एक माह में घी हजम होने लगता है । यह बङ्गेश्वर नाम का रस । सब योगों में उत्तम योग है । यह पूज्यपाद स्वामी ने सब रोगों को दूर करने के लिये कहा है । इसकी मात्रा एक निष्क प्रमाण है ।

७७—विबन्धे बज्रभेदीरसः

चित्रकं त्रिवृता प्राह्या, त्रिफला च कटुत्रयम् ।

प्रत्येकं सूक्ष्मचूर्णं तु द्विगुणं च स्तुदीपयः ॥ १ ॥

पंचगुंजमिदं खादेद्वज्रभेदीरसोत्तमम् ।

विबन्धं नाशयत्याशु पूज्यपादेन भाषितः ॥ २ ॥

टीका—चित्रक, निशोथ, त्रिफला, सोंठ, मिर्च और पीपल यह प्रत्येक चीज समान भाग लेकर कूट कपड़कन कर के एकत्रित करे फिर इसमें दूना थूहर का दूध मिलाकर घोंटे, और सुखा कर तैयार कर रख ले । इसकी पांच रस्ती की मात्रा है । अवस्था के अनुसार सेवन करे तो बराबर दस्त होवे । कब्ज को दूर करनेवाला यह रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है ।

७८—विबन्धे इच्छाभेदीरसः

सूतं गन्धं तथा ज्योषं रंकणं नागराभये ।

जयपालबीजसंयुक्तं इच्छाभेदी रसः स्मृतः ॥ १ ॥

चतुर्गुंजाप्रमाणेन विरेकः कथ्यते बुधैः ।

शीघ्रं विरेचयत्याशु पूज्यपादेन भाषितः ॥ २ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, सोंठ, मिर्च, पीपल, भुना हुआ चौकियासुहागा, सोंठ, बड़ी हर्ष का क्लिका, तथा जमालगोटा के शुद्धबीज इन सब को समभाग एकत्रित करके चार चार रस्ती के प्रमाण से सेवन करे तो बराबर शीघ्र ही दस्त हो । ऐसा पूज्यपाद ने कहा है ।

७६—ज्वरादौ ज्वर-कण्टकरसः

पारदं टंकणं चैव सैधवं त्रिफला युतं ।
 त्रिकटुं च समं सर्वं जयपालं सर्वतुल्यकं (?) ॥ १ ॥
 चतुर्गुंजमिदं खादेत् रसोऽयं ज्वरकंटकः ।
 सर्वज्वरविनाशोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥ २ ॥

टीका—शुद्ध पारा, सुहागे का फूला, सेंधा नमक तथा त्रिफला त्रिकटु ये सब समान भाग लेकर कूट कपड़कन करे तथा सब के बराबर जमालगोटा लेकर पीस कर रख लेवे । इसके चार चार रत्ती के प्रमाण से अनुपान-विशेष के द्वारा सेवन करने से सब प्रकार का ज्वर शांत होता है, यह पूज्यपाद स्वामी की उक्ति है ।

८०—शीतज्वरे शीत-कण्टकरसः

पारदं टंकणं तालक्रमाद्द्विगुणसंयुतं ।
 कारवेल्ल्याः द्रवैर्मद्यंस्ताम्रपत्रे विलेपयेत् ॥ १ ॥
 दिनेकं बालुकायंत्रे पाचयेत्स्वांगशीतलं ।
 चतुर्गुंजमिदं खादेत् पर्ण-खंडेन योजयेत् ॥ २ ॥
 दध्योदनमिदं पथ्यं रसोऽयं शीत-कंटकः ।
 शीघ्रं शीतज्वरं हन्ति पूज्यपादेन भाषितः ॥ ३ ॥

टीका—शुद्ध पारा १ भाग सुहागा २ भाग, एवं शुद्ध हरताल ४ भाग (इस क्रम से एक से दूसरा दूना २ लेकर) सब को एकत्रित कर करेले के फल के रस में मर्दन कर के शुद्ध तामे के पत्र पर लेपन करे तथा उसको ताम्रपत्र सहित बालुका-यन्त्र में पकावे । जब स्वांग शीतल हो जाय तब उस को निकाल और घांट कर रख लेवे तथा चार रत्ती के प्रमाण से पान के रस के साथ सेवन करे तो शीतज्वर दूर होवे । इसके ऊपर दही-भातका पथ्य है । पूज्यपाद स्वामी ने इसे शीतज्वर को नाश करनेवाला बतलाया है ।

८१—शीतज्वरे शीतकुठाररसः

पारदं रसकं तालं समं निर्गुंडिकाद्रवेः ।
 मर्दयेत्ताम्रपत्रेण लेपयेद् वैद्यपुंगवः ॥ १ ॥
 बालुकायन्त्रमध्यस्थं दिनेकं पाचयेत्तथा ।
 तद्भस्म च समं योज्यं यत्नाद्भस्म च टंकणं ॥ २ ॥

कारवेल्याः द्रवैस्सर्वे बटी गुंजाप्रमाणिका ।

नागबल्याः द्रवैर्देया रसः शीतकुठारकः ॥ ३ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध खपरिया हरताल, तबकिया ये तीनों भाग बराबर लेकर नेगड़ की पत्ती के रस में मर्दन करके तथा शुद्ध ताम्र पत्र पर लेप करे और उसको बालुकारंत्त में १ दिन भर पकावे तथा जब पक जाय तब उसको ठंडा होने पर निकाल लेवे। उसके बराबर चौकिया सुहागे का फूला लेकर दोनों को करेले के रस के साथ मर्दन कर के एक एक रत्ती प्रमाण गोली बना लेवे और पान के रस के साथ देवे तो शीतज्वर शांत होता है ।

८२—प्रदरादौ पंचबाणरसः

मृतसूताभ्रहेमं च विधाय पर्पटी तथा ।

अरण्यकदलीकंदमश्वगंधाशतावरी ॥१॥

त्रिकंटकामृता विश्ववानरीबीजयष्टिका ।

धातु च शाल्मली सौरश्चेलु सारेण मर्दयेत् ॥२॥

बटी गुंजाप्रमाणेन सिताक्षीरं पिवेदनु ।

पथ्यं च मधुराहारं पंचबाणरसोऽह्वयं ॥३॥

योगोऽयं सर्वरोगघ्नो विशेषं प्रदरे तथा ।

प्रमेहे सेतुवज्जोयो पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—पारे की भस्म, अभ्रक भस्म एवं सोने की भस्म इन तीनों को बराबर लेकर एक-त्रित कर घोंट कर पपड़ी बनावे फिर जंगली केले के कन्द के रस में, तथा असगंध, शतावरी, गोखरू गुर्व, सोंठ, कोंच के बीज, भुलहठी, आंवला, सेमल तथा गन्ना, इन सब के रस में एक एक दिन अलग अलग मर्दन करे एवं एक एक रत्ती के बराबर गोलियां बनावे । रोग की अवस्था को देख कर सर्व रोगों में प्रयोग करे और ऊपर से दूध, मिश्री पिलावे तो इससे सर्व प्रकार के धातु-सम्बन्धी रोग अच्छे होते हैं । तथा खास कर प्रदर प्रमेह शांत होते हैं । पथ्य मीठा भोजन करे—ऐसा स्वामी जी ने कहा है ।

८३—मन्दाग्नौ कालाग्निरसः

शुद्धं सूतं विषं गंधमज्जमोदं पलत्रयम् ।

सज्जीक्षारयवक्षारौ वह्निसैधवजीरकम् ॥ १ ॥

सौवर्चलं विडंगानि टंकणं च कटुत्वयम् ।
 विषमुष्टिं सर्वतुल्यं जंबीररसमर्दितम् ॥ २ ॥
 मरिचपमाणवटिकां चाग्निं मान्यप्रशांतये ।
 अशीतिबातजान् रोगान् गुल्मं च ग्रहणीं जयेत् ॥ ३ ॥
 रसः कालाग्निरुद्रोऽयं पूज्यपादेन निर्मितः ।

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग, शुद्ध आंवलासार गंधक ये एक एक पल तथा अज-
 मोदा ३ पल, सज्जीखार १ पल, जवाखार १ पल, चित्रक १ पल, सेंधा नमक १ पल,
 सफेद जीरा १ पल, काला नमक १ पल, बायविडङ्ग १ पल, भुना चौकिया सुहागा १ पल,
 सोंठ मिर्च, पोपल ये तीनों १-१ पल तथा शुद्ध कुचला सब के बराबर ले, कूट एवं कपड़-
 छन कर जम्बीरो नीबू के रस में मर्दन कर के काली मिर्च के बराबर गोली बनावे । यह
 गोली अनुपान-विशेष से अग्निमांश की शान्ति के लिये लाभदायक है । यह अस्सी प्रकार के
 वायु के रोग सर्व प्रकार के गुल्म रोग तथा ग्रहणी रोग इन सब रोगों के नाश करने के
 लिये हितकारी है । यह कालाग्नि रुद्ररस श्री पूज्यपाद स्वामीजी ने कहा है ।

भावार्थ—आचार्य जी ने इस रसका अनुपान तथा मात्रा नहीं बतलाई है । इस
 लिये वेद्य लोग रोगी का तथा रोग का बलाबल विचार कर मात्रा तथा अनुपान की
 कल्पना स्वयं करें ।

८४ — अजीर्ण अजीर्णकण्टकरसः

शुद्धं सूतं विणं गंधं समं सर्वं विचूर्णयेत् ।
 मरिचं सर्वसाम्यांशं कण्टकारीफलद्रवैः ॥ १ ॥
 मर्दयेत् भावयेत्सर्वं चैकविंशतिवारकं ।
 बट्टी गुंजातयं खादेत् सर्वाजीर्णं च नाशयेत् ॥ २ ॥
 अजीर्ण-कण्टकाख्योऽयं रसो हन्ति विषूचिकाः ।
 अग्निमांशविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥ ३ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग, शुद्ध गंधक ये तीनों बराबर बराबर लेकर सब के
 बराबर काली मिर्च सब को कूट और कपड़छन करके छोटी कटहली के फलों के रस की
 इक्कीस भावना देवे तथा तीन रस्ती की प्रमाण गोलियां बांधे इन गोलियों को अनुपान-
 विशेष से सेवन करावे तो सब प्रकार का अजीर्ण तथा सब प्रकार की विषूचिका शांत
 होती है तथा यह अजीर्णकण्टक रस अग्निमांश-रूपी विष को नाश करनेवाला श्री-
 पूज्यपाद स्वामी ने कहा है ।

ॐ
THE
JAINA ANTIQUARY
An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. II.]

December, 1936.

[No. III.

Editors :

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, Kolhapur, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, Arrah.

Published at

**THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.**

Annual Subscription :

Inland Rs. 4.

Foreign Rs. 4-8.

Single Copy Rs. 1-4

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

“श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥”

Vol. II, No. III	}	ARRAH (INDIA)	}	Decr., 1936.
---------------------	---	---------------	---	-----------------

VĒNŪR & ITS GOMMATA COLOSSUS.

(By M. Govind Pai.)

Continued from page 60.

INSCRIPTIONS ON THE COLOSSUS.

(A) *On the proper right side.*

There are two inscriptions engraved on the slab set up behind the colcssus, one on each side of it. That on the proper right of the colossus is in Samskrit verse, having been composed in the *Anuṣṭubha* metre, so common in Samskrit poetry. It contains six verses, which are engraved in Kanarese characters. This inscription is badly disfigured by a crack running across it, which has injured one or more letters in almost every line of it. As it stands there, it is in sixteen unequal lines, which however may be set down as follows in the right versicular form :—

“श्रीमत्परमगम्भीर स्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥१॥

शकवर्षेऽवतीतेषु विपश्चात्तिशरेन्दुषु ।
 वर्त्तमाने शोभकृति वत्सरेफाल्गुनाख्यके ॥२॥
 मासेऽथ शुक्लपक्षेऽद्वयं दशम्यां गुरुपुष्यके ।
 सुजग्ने मिथुने देशीगणाम्बरदिनेऽशितुः ॥३॥
 बेलगुलाख्य पुरीषद्वयं क्षीराब्जधुनिशापतेः ।
 चारुकीर्त्तिमुनेर्द्विष्य-वाक्यादेनूरपत्तने ॥४॥
 श्रीरायकुवरस्याथ जामाता तत्सहोदरी ।
 पाण्ड्यकारव्यमहादेव्याः सुपुत्रः पाण्ड्यभूपतेः ॥५॥
 अनुजस्तिम्भराजाख्यश्चामुण्डान्वय भूपकः ।
 अस्यायत् प्रतिष्ठाप्य भुजबल्याख्यकं जिनम् ॥६॥
 ॥ शुभमस्तु ॥

TRANSLATION.

May it be victorious—the holy doctrine of Jina, the lord of the three worlds, the unerring feature of which is the extremely profound *Syādvāda*.¹ (i.e., the assertion of possibilities). After the Śika years (measured by) the sense-objects (=5), the eyes (=2), the arrows (of Cupid =5), and the moon (=1), had elapsed,² while the Cyclic year (called) *Śōbhakṛt* was current, in the (lunar) month of *Phālguna*, on the brilliant lunar day of *Daśmī* (i.e., the 10th lunar day) of the bright fortnight, (when the moon was in) the constellation of *Pushyā* (which occurred on) Thursday and while the auspicious sign of *Mithuna* (i.e., the Gemini) was in the ascendant, at the godlike behest of the sage *Chārūkīrti*, who was like the sun on the firmament of the *Deśi-gaṇa* and like the moon to the milky ocean of the pontificate of the town named *Belgula* (i.e. *Śravaṇabelgola*).

1. The word '*Syādvāda*' has been quite incorrectly translated as 'Scepticism' by Dr. Hultzsch (*Epigraphia Indica*, VII p. 113). I have rejected it and have adopted instead this rendering given in Mr. P. C. Nahar's "*Epitome of Jainism*" (p. 17).

2. The numerals forming the number 1525 are here expressed by means of representative objects (such as sense-objects, eyes etc.). This is called भूतसंज्ञा गणन in which the numerals so expressed are to be set down in the reverse order before obtaining the correct number indicated thereby.

King Timmarāja (who was) the ornament of the family of Chāmunda, (and was) the son-in-law of the glorious (king) Rāyakuvara, (and was) the son of his (Rāyakuvara's) sister, the great queen named Pāṇḍyaka, (and was) the younger brother of prince Pāṇḍya, consecrated and set up (this statue of) Jina called Bhujabali in the town of Ēṇūr (i.e. Vēṇūr).

Be it auspicious (unto all) !

NOTES.

(1) The opening verse of this inscription is very common in Jain epigraphs and is usually placed at their commencement. But this verse is not found in the inscription on the colossus at Kārkaṭa.

(2) गुरुपुष्यके.—The moon's occupation of the eighth asterism called Pushyā, when it occurs on a Thursday, is termed an अमृतसिद्धियोग and is considered very auspicious.

(3) Dēśi-gaṇi.—One of the sub-divisions of the *Nandi-Saṅgha* of the Digambara Jainas. (*Vide* 'Jaina Antiquary' I. pp 63—66).

(4) बेरगुलाख्य etc.—There is a pontificate of the Digambara Jaina *gurus* belonging to the *Lēśi gaṇi* of the *Nandi Saṅgha* at Śravaṇa-belgola, and *Chārurkṛti* is the common title by which almost all the occupants of that seat are known.

(5) एनूर-पत्तने.—From this it is obvious that the original name of what is now called Venuru (वेणूर), was, 'Ēṇuru' (एनूर)¹. We have already seen that this name also occurs as 'Yeṇūru, (एनूर) in Maduraka's inscription beside the *Tīrthakara Basadi*.

(6) तत्सहोदरी.....सुपुत्र—From this it is quite evident that prince Timmarāja was not only the son-in law (जामाता) of his predecessor Rāvakuvara (*alias* Rāyakumāra), but was also the son of his sister Pāṇḍyaka Devī. Here it must be said that in the South Kanara district all the Jaina laymen follow what is called *Āṇiya Saṅtāna* law, i.e., matriarchal succession (or nepotic succession) according

1. Enūra (एनूर) is the genitive singular (Kanarese) of the name Enūru (एनूर) and 'Enūra pattane' (एनूर पत्तने) means 'in the town of Enūr.'

to which the inheritance runs through nephews and nieces (*i.e.*, the offspring of one's sister), and this is the local law, which governs the succession among all the Tulu non-Brahmins in the district. Among the Jains it is only their priests, who are called Indras (इन्द्र), and among the non-Jainas it is only the Brahmins that are not subject to this law, which by the way is peculiar only to this district and Malabar on the West Coast. It is therefore as Rāyakuvara's sister's son that Timmarāja succeeded him on the throne of Vēṇūr.

(7) चामुण्डान्वयभूषकः—This will be explained later on.

(8) भुजबल्याख्यकं जिनम् :—Bhujabali or Bāhubali was the son of the first Tīrthamkara Rīṣabhanāṭha by his second wife Sunandā Devī. It is this Bhujabali as he stood in प्रतिमायोग that is represented in these stone colossi, which are termed *Gommaṭa* or *Gummaṭa*.¹

(B) *On the proper left side.*

The other inscription on the proper left side of the colossus consists of two verses in Kanarese language and is engraved in the same script. Each of these verses is a *Samavṛitta*, *i.e.*, a verse having an equal number of syllables in each of its four feet. The first which has 20 syllables in each foot, is called an "*Utpalāmālā*" which, though it belongs to the Samskrit metrical system, is scarcely found in Samskrit poetry, whereas it is of common occurrence in Kanarese poetry. The second, however, is quite rare even in Kanarese poetry: in fact so far as I have seen it occurs nowhere else. It has 23 syllables in each of its four feet, and as such it belongs to the 23rd "*छन्दस्*" of Samskrit prosody, called *Vikṛiti* (विकृति); and but for a single additional भ-गण (*i.e.*, dactyl) in each foot, it is quite similar in structure and scansion to the *Utpalāmālā*. Its name is not known, and I very much doubt, if this *Vṛitta* has been mentioned at all in any work on Samskrit or Kanarese prosody.

This inscription is incised in 13 unequal lines as it stands *in situ*, which however may be thus set down in their proper

1. As to why the Bāhubali colossi are called *Gommaṭa* or *Gummaṭa*, vide my article on that subject in the "Indian Historical Quarterly" (IV 2, P. 270 ff.)

verse forms :—

श्री शक्रवर्षमं गणिते सातिरदिं मिगुवय्दु लेकमु—
 ल्ळा शतदिप्रसारनेयशोभकृदब्द फाल्गुनारव्य मा — ।
 साधित शुक्लपक्ष दशमी गुरुपुष्यद युगमलग्नदोळ्
 देशिगणाग्रगणय गुरु पण्डितदेवन दिव्य वाक्यदिं ॥१॥
 रायकुमारनोपुचळियं सति पाण्ड्यकदेविय पुत्रनत्त सो —
 मायतवंशधुर्य्यनुरुसाहसि पाण्ड्यनृपानुजनुद्ध दान रा — ।
 धेयनुदार पुञ्जळि के पट्टवनाळ् व नृपाग्रणि तिम्म भूभुजं
 श्रीयुतनं प्रतिष्ठिसिदनादिजिनात्मजनं जिन गुम्मदेशनं ॥२॥

TRANSLATION.

(1) In the (cyclic) year (called) *Sōbhakrit* (which was) the glorious Śaka year, counted by 26 (years) after a hundred (years) numbered five (times) exceeding one thousand (years),¹ on the 10th lunar day (i.e., *Daśanī*) of the bright fortnight occurring in the month of *Phālguna*, (when the moon was) in (the constellation of) *Pushyā* (that occurred) on Thursday, and when the sign of the 'Couple' (i.e. *Mithuna* or the *Gemini*) was in the ascendant, at the godlike direction of (his) preceptor (called) *Paṇḍitadēva*, who was the foremost of the *Dēśī-gaṇa*,

(2) King Timma, the worthy nephew of (king) *Rāyakumāra*, (and) the son of the virtuous *Pāṇḍyaka Devī*, (and) the chief of the extensive Lunar race, (and) the brave brother of King *Pāṇḍya*, (and who was) a very *Rāṭheyā* (i.e. *Karna* of the *Mahābhārata*) in making great gifts, (and) the foremost among kings, (and) who was ruling over the excellent kingdom of *Puñjālika*, consecrated here (this image of) the blessed Jina (called) *Gummaṭeśa* (who was) the son of the first Jina (i.e. *Risabhanātha*).

1. i.e., $26 + 100 \times 5 + 1000 = 1526$ th year of the Śaka era. Thus whereas according to the former inscription, the number of years expired in the Śaka era before the date of the installation was 1525, this inscription says that the said installation took place in the (current) 1526th year of the Śaka era, wherefore both mean the same thing and express the same year.

NOTES.

(1) गुरु पण्डितदेव.—This is perhaps the proper name of the prelate who was then in charge of the Śravaṇabelgola seat, and who in the inscription has been called as “*Chārukīrti*,”¹ which seems to be the common title applicable to all the occupants of that pontificate. An inscription (No. 250) at Śravaṇabelgola dated Saturday the 28th of July 1634 A. C. mentions a Chārukīrti Paṇḍitadēva, and perhaps this was the preceptor of Timma Rāja.

(2) सोमयतवंश—Wherefore it appears that the Ajilas of Vēṇūr claimed to have belonged to the Lunar race.

THE DATE OF THE INSTALLATION.

As so clearly stated in these inscriptions this colossus was installed when 1525 years of the Śaka era had expired and the 1526th year was current; i.e., in 1603-1604 A. C., in the cyclic year called *Śōbhakṛit* on Thursday the 10th lunar day of the bright half of the month of *Phālguna*, on which the moon was in conjunction with the asterism of *Pushyā*. This exactly corresponds to Thursday 1st of March 1604 A. C.; and as the consecration is said to have been performed when *Mithuna lagna* was current (i.e., the zodiacal sign of *Mithuna* was in the ascendant), the auspicious time of the installation would be between 12.15 to 1 P.M., of that mid-day.

1 Though in olden days the Jaina Prelates of Śravaṇabelgola were known by their different names, of which “*Chārukīrti*,” was one, later on they seem to have adopted this name ‘*Chārukīrti*’ as a common title so much so that the monastery at ravaṇabelgola is known as “*Chārukīrti-Matha*.” The Jaina Maṭha at Mūḍabidri (in South Kanara district) is also known by the same name, as the Jaina *guru* there has the same title.

The planetary positions at that moment are indicated in the following diagram:—



A SHORT HISTORY OF THE AJILA DYNASTY.

The name of the family that ruled at Vēṇūr is *Ajila*, and their original home seems to have been somewhere on the Ghāṭs in the province called the '*Ganga Nāḍu*' or the Ganga country, now included in the Mysore State. Nothing is known of the family before the time of Timmaṇṇa Ajila I, who seems to have ruled from about 1154 to 1180 A. C. Though a Jaina in creed he appears to have been a devoted worshipper of God Śiva, with whose grace he claims to have recovered a large portion of his ancestral kingdom, which had been conquered by the Hoysāla king Viṣṇuvardhana (1111—1141 A.C.) His royal seal bore the legend "श्री महालिंगेश्वरः प्रसन्नः" At the time of his death there were only two nieces (i.e., daughters of his sister) in the family, of whom the elder Channamma was a childless widow and younger Madurakka, who had been married to a certain Chāmunḍa Rāya of the said *Ganga-Nāḍu*, was the mother of a minor son. When their right to the throne was disputed on the score that no woman should ascend the throne of Vēṇūr, nor even rule as a regent on behalf of her minor son, they went straight way to Banavāsī and laid their complaint before king Kāmadeva, ruling over the Hānungal country as a feudatory of the Chālukya king of Kalyāṇa.

As soon as those sisters left Vēṇūr, the local nobles elected a certain member of the prominent *Puñja* family of the *Bantaś*¹ and made him their king. He seems to have ruled from 1180 to 1186 and it is on that account that the principality is said to have been known as the kingdom of *Puñjālike*. The Kadamba king Kāmadeva came to their rescue, and when on their behalf he invaded Vēṇūr, the Puñja king fled away and committed suicide, whereupon, Kāmadeva made over the kingdom to the younger sister Madurakka Dēvi. Her son Rāyakumāra I, who had by that time attained majority, ascended the throne, and he seems to have ruled from 1186 to 1204 A. C.

Several kings as well as queens ruled after him, all of whom however followed the succession through their sisters' sons or daughters and when in 1550 A. C. his namesake Rāyakumāra II died, he was succeeded by his nephew and son-in-law Timma Rāja or Timmaṇṇa Ajila, who was the installer of the Gommaṭa colossus. He seems to have been crowned in Śaka year 1472, Sādhārana Samvatsara on Vaiśākha Śukla 5 (वैशाख शुक्ल पञ्चमी), i.e., 21st April 1550 A. C., and ruled from 1550 to 1610 A. C. Anxious to instal a Gommaṭa colossus in his capital at Vēṇūr just like that at Kārkaṭa, which was the capital of the Bhairarasa² kings of the Sāntāra dynasty, this king had it carved at a place called Kalyāṇī, some three miles from Vēṇūr, but when the image was ready for consecration, and was about to be conveyed to Vēṇūr, his contemporary of Kārkaṭa kingdom called Dāvaṇi Immaḍi Bhairavarāya, in whose capital at Kārkaṭa, there was already a similar colossus installed by one of his ancestors Vīra Pāṇḍya in 1432 A. C., would not suffer a rival colossus to be installed at Vēṇūr, which is but some twenty miles from Kārkaṭa, lest by the performance of a like great deed Timmaṇṇa Ajila should become an equal of Vīra Pāṇḍya

1. *Banṭa* (बण्ट) is the name by which a high class community of the Non-Brahmin Hindus of South Kanara district is called. Most of the landowners of the district belong to this community.

2. 'Bhairarasa' means Bhaira king (Arasa=king); and Bhaira is perhaps a variant of Beyara or Beyra, already noticed above,

and lest also the unique sanctity which Kārkala had acquired as a place of Jaina pilgrimage in virtue of the presence of that colossus, be eclipsed when another would be set up so close by. He thus declared war and marched against Vēṇūr with a view to stop the ceremony and destroy the image which had been then all but installed. The Vēṇūr king rightly apprehending danger to his image first took care to keep it safely buried beneath the sands of the Phalguni river, and then met the foe in battle. The battle brought victory to the Vēṇūr king, who routed the enemy beyond the bounds of his kingdom, and soon thereafter that king Timmaṇṇa Ajila consecrated that colossus in 1604 A. C.

He was succeeded by his niece Maduraka Dēvi, who seems to have ruled from 1610 to 1647 A. C. An inscription of hers has been already referred to. She appears to have performed the ceremony of circumfusion (मस्तकाभिषेक) to the colossus, albeit the contemporary king of Kārkala threatened to invade her country in case she would not stop the ceremony, and even actually invaded Vēṇūr though without any effect.

After her a few kings as well as a queen called Padmala Dēvi seems to have ruled at Vēṇūr. The last prince who sat on that throne with any semblance of power was another Timmaṇṇa Ajila, in whose reign the principality passed under the yoke of Haider Ali of Mysore. (1764 A.C.)

In the inscription on the proper right side of the colossus, we have seen that the installer king Timma Rāja calls himself "an ornament of the family of Chāmunda," and in that on the proper left side, he says, he is "chief of the extensive Lunar race," whence, it is evident that the Ajila family originated from a Chāmundaṛāya who belonged to the lunar race. It is quite possible that this Chāmundaṛāya might be easily identified with his name-sake the great Chāmundaṛāyā, who was the general as well as minister of three Ganga kings of Talakāḍ and who installed the Śravaṇabelgoḷa Gommata colossus in 981 A. C. But that cannot be right, for Chāmundaṛāya of the Śravaṇabelgoḷa fame belonged, as he himself says in one of his inscriptions (Śravaṇabelgoḷa No. 281 inscr), to what is called ri "rahma-Kshatra-kula," wherefore his ancestors must have been goBinally Brahmins, who had eventually taken to the Kshatriya

profession of arms, as *e.g.*, Drōṇa Āchārya, Kṛipā Āchārya, etc., did in pre-historic times; and consequently he could not claim descent from the Solar or Lunar race, for the simple reason that both of these races were *ab initio* of Kshatriya origin. The ancestor of Timma Rāja, therefore, must be some other Chāmundaṛāya who was of the Lunar race. Now one of the several *birudas* which the Ajila kings of Veṇūr had, was “Kadamba-vaṁśāmbudhi-chandra” *i.e.*, “the moon sprung from the sea of the Kadamba family,” which indicates that the Ajilas belonged to the Kadamba dynasty, and therefore their progenitor Chāmundaṛāya must be sought for in that line of rulers. This is corroborated by the fact that after the death of Timmaṇṇa Ajila I in 1180 A. C., his helpless nieces Channamma and Madurakka¹ repaired directly to the court of the Kādamba king Kāmadēva at Banavāsī, and they must have gone thither with the assurance of a claim they had on his sympathy in that he was of the same family as theirs, and was thus a close cousin of their own, and we have seen that he readily responded to their need. Now among the later kings of Banavāsī, there was one called Chāmundaṛāya, who was *perhaps* a Kadamba king. A couple of his inscriptions are found in the Shikārpur Tāluk of Mysore State, one of which² is dated the 24th of December 1061 A. C., *i.e.*, about a hundred years before the time of Timmaṇṇa Ajila I (1154–1180 A. C.), who by the way is the first Ajila king known to history. Might this Chāmundaṛāya be a near ancestor of Timmaṇṇa Ajila I?

It is also believed that, as the Ajilas are said to have migrated into the South Kanara district from the province called Ganga-Nāḍu above the Ghāṭs, they were descended from the Ganga kings of Talakāḍ, but it cannot be right for the simple reason that the Gangas, who claimed to belong to the Ikṣvāku family and were therefore of the Solar race, could never be the ancestors of the Ajilas, who claimed to have sprung from the Lunar race³.

M. GOVIND PAI.

1. The Chāmundaṛāya of Ganga-Nāḍu to whom, as we have seen, this Madurakka was married could not be the progenitor of the Ajila family, because he was the husband of the niece of Timmaṇṇa Ajila I, and therefore could not be the ancestor of the latter. The progenitor of the family must be some near or remote ancestor of Timmaṇṇa Ajila I, who appears to be its earliest king known to history.

2. Epigraphia Carnatica VII : Shikaripur 11.

3. For the History of the Ajilas see the Kanarese work दक्षिण कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास by Mr. M. Ganpati Rao Aigal (Mangalore, 1923).

Studies in Jaina Gotras

BY

Professor A. N. Upadhye

At the end of this article we are appending a list of Gotras with their Pravaras, Sūtras and Śākhās. This Devanāgarī list is prepared from the list published in the *Jaina Gazette* vol. xxiii, 8, with the supplement (*Ibid.*, 9, p. 259) and a Ms. from my own Collection (for my remarks thereon see *Jaina Gazette* vol. xxv 4-6). I had pointed out in my remarks that there are apparent errors in both the texts, and they could be corrected in the light of the literary sources which were discussed in my above article. The printed list in the *Jaina Gazette* and my Ms. are not in complete agreement. Only seventy-one Gotras with their Pravaras etc. are common to both; the last three of the printed list are wanting in the Ms. and the last thirteen from the Ms. are not found in the printed list.

As to the sources of some of the Gotra-names, they are found in the lists of names of Yakṣas, of fathers of Tīrthaṅkaras, of Kuladharas, of Cakravartins, of Baladevas of Vāsudevas and of Rudras. All the names of Pravaras are drawn from Jinaseṇa's Sahasranāma, a part of his Mahāpurāṇa, from the First, Second and Sthaviṣṭha Śatas. The list of Sūtras is made up by the names of Gaṇadharas of Vṛṣabha, Gaṇadhara-mukhyas of twenty-four Tīrthaṅkaras, the names of Gaṇadharas of Mahāvīra, Daśapūrvadhārins and Ācārāṅgadhārins. At times only necessary names are selected. The names of Śākhās are drawn from the varieties of Śrutajñāna, the names of Aṅgas, Prakīrṇakas and Sūtras. Some of the Śākhā-names of additional Gotras are drawn from Leśyādhi-kāra of Gōmmatīśāra (see my article in *Jaina Gazette*). From these remarks it is somewhat clear how our Gotra-list is compiled.

Gotras, according to above remarks, refer to names of personages from mythological lists. But the word Gotra has sufficiently

technical sense according to Jaina tradition. It has its place in the famous Karma Theory, and it occurs in the scriptures as one of the Eight Karmas. According to Gōmmaṭasāra (Karmakāṇḍa 13) Gotra signifies the conduct of the soul coming down from generation to generation. There are distinctions of high and low gotras according as the standard of conduct is high or low. It is this Karma that determines the high or low family for the birth of soul. We are at a loss to know how to compromise the technical and the current sense. Or they are not mutually connected at all?

The word Gotra, according to Brahmanic tradition, has a very interesting history behind it. In Vedic times it had its literal meaning, *viz.*, an enclosure for cows. For their safety from wild animals and thieves the cows were put in an enclosure in the evening and again released in the morning. The cows owned by one family were penned in a particular Gotra which, therefore, gradually came to mean a family. A particular saint of the family came to be known as Gotra Ṛṣi. In early days the number of Gotras was comparatively small in view of the Āryan migration into India in a few groups. Originally there were four Gotras, namely, Bhṛgu, Aṅgīrasa, Kāśyapa and Vāsiṣṭha, according to one tradition preserved in a verse of Mahābhārata, indicating thereby that only four stocks of Āryan families came to India, and these Ṛṣis are also the composers of Vedic hymns. But the number has increased, since then, like anything. In later literature Gotra is often treated as a surname. In classical Sanskrit and with the commentators, Gotra means a male line of descendants as against Kula which represents the female line. The Brahmanic tradition about Pravara is not very popular. According to Śrauta-sūtras Pravara consists of those Ṛṣis who are the composers of hymns in Ṛgveda. The Pravaras are common to Brāhmaṇas and Kṣatriyas all over India, and they contain the names of many Rājarsis who have composed Vedic hymns (see Proceedings and Transactions of the First Oriental Conference p. 15). The Śākhā is the school or the traditional recension in which a Veda is preserved or the traditional text

followed by a particular school as in Śākala-śākhā, Āśvalāyana and Bāṣkala-śākhā. Some people adhere to one or the other recension and accordingly they get the Śākhā-denomination. Further the Sūtra of a Śākhā consists of the aphorisms that deal with the several details relating to the domestic life (Gr̥hya-sūtra) or the sacrifices (Śrauta-sūtra) performed by the followers of a particular school. For instance, Āśvalāyana Gr̥hya and Śrauta Sūtras belong to Āśvalāyana Śākhā of the R̥gveda.

The discrepancies of readings between the printed list and the Ms. decidedly suggest one fact that the list of Gotras, etc., has travelled over different provinces of different dialects, as it can be inferred from the various phonetic changes. This shows that the list might have been popular in different parts of South India. Moreover the learned Editor of *Jaina Gazette* notes that some of the Jaina families in the Tāmīla country have these gotras. But as to the universal currency and the antiquity of this gotra-list there is scope for grave doubts. If these gotras were attached with individual names, we expect to find these gotras along with the names of poets and other personages of South India in literary and epigraphic records. But from the available references we find that these gotras are not found with any of the names of early period, and moreover the gotras, etc., that are recorded there are altogether different.

Turning to the literary references we find that Ādi-Pampa (A.D. 941), the foremost poet of the Kannada literature, who was a Jaina, says that he belonged to Vatsa-gotra; Pōnna (A.D. 950) the author of Śāntipurāṇa notes his gotra as Kaundīṇya; similarly Nāgavarma (A.D. 990) also belonged to Kaundīṇya-gotra; Bhāskara (A.D. 1424) records his gotra as Viśvāmitra. In the case of these above authors we can make a concession as some of them were recent converts to Jainism from the Brahmanic fold; so it is imaginable that they might have retained their old gotras as a family heirloom. Now we shall note some other cases where the authors are definitely Jains, and still they give their gotras as below. Most of these authors were house-holders, and

as such they are expected to give their gotras etc. Ācanna (A.D. 1195), the author of Vardhamāna-purāṇa was a Jaina, and he had Bhāradvāja as his gotra; Janna (A.D. 1209) the author of Ananta-purāṇa and other works belonged to Kāśyapa-gotra: he was a disciple of Rāmacandradeva, the pupil of Mādhavacandra; Mahābalakavi (A.D. 1254), the pupil of Meghacandra, was of Bhāradvājagotra. So also Madhura (A.D. 1385), the author of Dharmauāthapurāṇa, belongs to Bhāradvājagotra. Dōḍḍiyya (A.D. 1550), the pupil of Paṇḍita Muni, was of Ātreya-gotra. Thus from these literary references we find that many Jaina authors from Kārṇāṭaka from the 10th to the 16th century give their gotras such as Vatsa, Kaundīnya Kāśyapa, Bhāradvāja, Viśvāmitra and Ātreya; and none has given the gotras from our list (See Kārṇāṭaka-Kavīcarite Vols. I & II).

Turning to epigraphical records the same tale is repeated. Śravaṇa Belgoḷa Inscription (S.B.I.) No. 98 (19th Century A.D.) records the death of Devarāja, a descendent of Cāmuṇḍarāja; he has Kāśyapa-gotra, Ahaṇīya-sūtra, Vṛṣabhpravara and Prathamānu-yoga-śākhā. The tone of the inscription shows that he was a Jaina. Similarly inscription No 45 speaks of a devoted Jaina belonging to Kaundīnya-gotra. Besides these, there are references in some of the Inscriptions to Kaundīnya, Goila and Yavare Gotras (See S.B.I., Manikachanda Digambara Jaina Granthamālā Edition, Nos. 40, 43, 45, 59, 90, 360; 347; 340, 344; and 118). Thus the epigraphic references too are not completely in favour of the genuineness and the antiquity of our list. Only once we have got a Vṛṣabha Pravara, but there the gotra is Kāśyapa and not Amitateja as in our list. But this reference comes from a very late period, viz, 19th century.

In the light of my above remarks one can conveniently question the antiquity of the present list. I earnestly request the Jaina scholars in the North and South to publish similar lists of gotras that might be current in their parts and also note how far these gotras affect the marriage relations.

	गोत्र	प्रवर	सूत्र	शाखा
1	अमिततेज	वृषभ	कुम्भ	पर्याय
2	सुकेतु (मीनकेतु V.L.)	शम्भव	द्वरथ	"
3	हरिकेतु	शम्भू	शतधनु	पर्याय समास
4	सूर्यमित्त	आरमभू	देवशर्म	"
5	भीधर	स्वयंप्रभ	धनदेव	अक्षर
6	जयव (घ. V.L.) मं.	प्रभु	नन्दन	"
7	देवकीर्ति	विश्वभू	सोमदत्त	अक्षरसमास
8	मेघ (ख. V.L.) प्रभ	अपुनर्भव	सुरदत्त	"
9	लोकपाल	विश्वारमा	वायुशर्म	पद
10	पृथ्वीपाल	विश्वलोकेश	यशोबाहु	"
11	प्रजा (ज्ञा V. L) पाल	विश्वतश्चतु	देव	पदसमास
12	यशपाल	अक्षर	मार्गदेव	"
13	मेघरथ (घ. V. L.)	विश्ववित्	अग्नि	संघात
14	वायुरथ (घ. V. L)	अनश्वर	अग्निदेव	"
15	घनरथ (घ V. L.)	विश्वदृष्टा	अग्निगुप्त	संघातसमास
16	चक्रायुध	विभुर्दाता	चित्राग्नि	"
17	रत्नायुध	विश्वेश	हलधर	प्रतिपत्तिक
18	श्रीपेण	विश्वलोचन	महीधर	"
19	विजय or श्रीविजय	विश्वव्यापी	माहेन्द्र	प्रतिपत्तिक समास
20	प्रिय (विजय V. L.) मित्र	विश्वतोमुख	वासुदेव	"
21	मणिमाली	जगज्जेष्ठ	बसुंधर	अनुयोग
22	जयन्त	विश्वमूर्ति	अचल	"
23	भूवल्लभ	विश्वदृक्	मेरुधर	अनुयोगसमास
24	वज्रदंत (ड. V L)	विश्वभूतेश	मरुभूति	"
25	पुण्डरीक	विश्वज्योति	सर्वयश	प्राभृतप्राभृत
26	अनंतवीर्य	अनीश्वर	सर्वयज्ञ	"
27	अनंतविजय	अमेयात्मा	सर्वगुप्त	प्राभृतप्राभृत समास
28	धात्रीवाहन	अनंतजित्	सर्वप्रिय	"
29	शत्रुंजय	अचिरयात्मा	सर्वदेव	प्राभृत
30	अपराजित	भक्ष्यबन्धु	सर्वविजय	"
31	विमलवाहन	अबन्धन	वृषभसेन	प्राभृतसमास
32	मेघवाहन	परतर	सिंहसेन	"
33	दशरथ	सूक्ष्म	चारुषेण	वस्तु
34	जयधा (था) म	सनातन	वज्रनाभि	"

35	अरिंदम	परमेष्ठी	चमर	वस्तुसमास
36	विष्णुप्रभ	स्वयंज्योति	वज्रचमर	"
37	ज्योतिःप्रभ	अजर	बलदत्त	पूर्व
38	भानुराज	ब्रह्मयोनि	विदर्भ	"
39	अभयकुमार	अयोनिज	अनगार	पूर्वसमास
40	सुप्रतिष्ठ	धर्मचक्र	कुन्धु	"
41	इत्थ (भ्यक्तेतु V. L.)	दयाध्वज	धर्म	आचारांग
42	सूर्य (विध्यक्तेतु V.L)	प्रशांतारी	मंदर	"
43	विंध्यशक्ति (V.L केश)	अनन्तात्मा	मेरु	सूत्रकृतांग
44	शत्रुघ्न	शुद्ध	अरिष्टयेन	"
45	जितशत्रु	प्रबुद्ध	चक्रयुध	स्थानांग
46	हेमांगद	ब्रह्मवित्	जय	"
47	विमलप्रभ	प्रबुद्धात्मा	कुम्भ	समवायांग
48	मधवा	सिद्धात्मा	विशाख	"
49	वज्रायुध	सिद्धशासन	मल्लि	व्याख्याप्रज्ञप्ति
50	हरिचन्द्र	सिद्धान्तवित्	स्वयंप्रभ	"
51	शुभचंद्र	सिद्धिसाध	स्वयंभू	ज्ञातृकांग
52	वैजयंत	सिद्ध	गौतम	"
53	सहस्रबाहु	जगद्धित	मणियज्ञ	उपासकाध्ययन
54	(सु) बाहु (गोत्र)	सहिष्णु	नन्दी	"
55	महाबाहु	अनन्त	अपरार्जित	अन्तकृद्दशांग
56	स्वर्णबाहु	अच्युत	मंदिमित्र	"
57	सुदर्शन	प्रभविष्णु	गोवर्धन	अनुत्तरौपपातिकदशांग
58	वायुवेग	अजर	इन्द्रभूति	"
59	जयधर	अजर्यो	वायुभूति	प्रश्नव्याकरणांग
60	सुगन्धर	आजिष्णु	अग्निभूति	"
61	विभीषण	अव्यय	सुधर्म	विपाकसूत्रांग
62	सत्यकृति	विभावसु	मौर्य	"
63	श्रुतकीर्ति	असंभूषणु	मौडि	दृष्टिवादांग
64	धनपति	स्वयंभूषणु	पुत्र	"
65	ललितांग	पुरातनः	मैत्रेय	प्रक्रमोपांग
66				"
67	हरिवाहन	परमात्मा	अकंपन	सूत्रोपांग
68	चित्रांगद	परंज्योति	अचेलक or अनिल	"
69	सिंहरथ	परमेस्वर	प्रभास	सूर्यप्रज्ञप्ति

70	अभिचंद्र	भीपति	विशाल	सूर्यप्रज्ञप्ति
71	ज्वलनज(ब)ति	अरज	प्रौष्ठल	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति
72	पुरुषसिंह	विरज	चत्रिब	"
73	नलिनप्रभ	शुचि	जब	द्वीपसागर
74	वीतशोक	ईशान	नागार्थ	"

In the Ms. the last three Gotras, etc., are not found, but besides the above the Ms. gives thirteen more Gotras with their Pravaras etc., which are given below.

गोत्र	प्रवर	सूत्र	शाखा
सुषेण	गरिष्ठगी	यशोभद्र	संक्रम
भानुदत्त	विश्वभृत्	यशोवाहु	"
धनपति	विश्वसृट्	लोहाचार्य	कर्मलेश्या
सुरेन्द्रदत्त	विश्वेष्ट	जयभद्र	"
सुरकीर्ति	विश्वभुक्	विनयन्धर	द्रव्यलेश्या
सर्वदेव	विश्वनायक	श्रीदत्त	"
पथास्य	विश्वाशी	"	परिणामलेश्या
विनुतकीर्ति	विश्वजित्	अर्हदत्त	"
सोमंकर	विजितांतक	जिनसेन	भानुलेश्या
विमलकीर्ति	विभव	अर्हद्वलि	"
वरधर्म	विभव	माघनंदि	सातालेश्या
नर्मदा	विशोको	धरसेन	"
मत्तिसागर	विजय	पुष्पदंत	असातालेश्या

Post script.

After I wrote the above remarks, I was shown another list of gotras in a palm-leaf Ms. by my learned friend the late lamented Pt. Appāsāstri Udagaonkar. It pains me to note that he did not live to see this article in print. He kindly allowed me to copy out the list from his Ms. I offer my thanks to his soul. This list contains 140 Gotras with their Pravaras, etc. I compared this with the list given above. The list belonging to Pt. Appāsāstri is more lengthy than the one printed above. Pt. Appāsāstri's list gives the first 74 gotras with slight differences in readings almost.

in the same order. There is an additional gotra between 57 and 59 as below :

58. सत्यक प्रभूषण भद्रबोहु अनुत्त०

Thus the numbers are pushed forth by one and the blank at 66th is made up. The additional gotras from 75 are as below :

	गोत्र	प्रवर	सूत्र	शाखा
75	सोमदत्त	प्रभूतस्मा	धर्मसिंह	चूलिकांग
76	चित्रमति	भूतनाथ	(अ)रुण	चूलिका आकाशगत
77	चपलमति	अगप्रभु	धनपाल	,,
78	सिद्धार्थ	सर्वादि	मधव	चू० रूपगत
79	श्रुतार्थ	सर्वहृक्	तेजोराशि	,,
80	बहुश्रुत	सर्वज्ञ	महावीर	चू० मायागत
81	भद्रमित्र	सर्वदर्शन	महारथ	,,
82	कुबेरदत्त	सर्वात्मा	अतिरथ	चतुर्दश प्रकीर्णक
83	यज्ञदत्त	सर्वलोकेश	विशाल	,,
84	शूरदत्त	सर्ववित्	महाजाल	पूर्वान्त
85	धान्यसेन	सुगति	सुविशाल	,,
86	धर्मदत्त	सुश्रुत	वज्रसूत्र	अपरांत
87	धर्मपाल	सुवाक्	वज्रशाल	,,
88	धर्मसेन	सूरि	चंद्र	ध्रुव
89	सत्य	बहुश्रुत	चन्द्रशूल	अध्रुव
90	सुमित्र	विश्रुत	मेघस्वर	चेतोजग्धि
91	मित्रसेन	विश्वशीर्ष	कच्छ	अध्रुवसंप्रणिधि
92	महानाग	शुचिश्रव	महाकच्छ	अर्थ
93	विक्रम	सहस्रशीर्ष	नमि	अध्रुव
94	नन्दिमित्र	क्षेत्रज्ञ	विनमि	च्यवनलब्धि
95	नन्दिषेण	सहस्राक्ष	बल	अध्रुवसंप्रणिधि
96	शंखगोत्र	सहस्रपात्	अतिव (?)	अर्थ
97	नागसेन	महेश्वर	वज्रबल	भौनबाध्याय (?)
98	यशोभद्र	स्थविष्ठ	महाभोग	,,
99	शोकान्त	स्थविर	नन्दिमित्र	सर्वार्थ कल्पनीय
100	श्रीभूति	प्रेष्ठ	नन्दि	,,
101	वीरकान्त	वरिष्ठधीः	नन्दिभूति	प्रक्रम
102	सम्मति	स्थेष्ठ	महानुभाव	,,
103	बुद्धीषण	गरिष्ठ	कामदेव	अनुपक्रम

104	विपुलकोत्ति	बलिष्ठ	अनुकम्पनार्थ	अश्वदुष
105	कांतचित्त	अष्ट	सुभद्र	"
106-19	{ Then here follow thirteen Gotras etc. which have been given before. The list is continued further :			
119	शांतमति	विराग	भूतबाल	असात
120	विजयभद्र	वीतमरसर	जिनचन्द्र	दीर्घ
121	यशःकान्त	योगवित्	कुंद-कुंद	"
122	पद्माक्ष	विधाता	समंतभद्र	ह्रस्व
123	वसुदेव	सुविधि	शिवकोटि	"
124	स्थूलभद्र	सुधी	पूज्यपाद	भवधारणीय
125	स्वयम्प्रभ	शान्तिभाक्	पलाचार्य	"
126	पुरुषोत्तम	अज्ञपति	धीरसेन	पुरुष...नाम
127	नन्दाक्ष	सोममूर्ति	नेमिचन्द्र	"
128	सु	सौम्यात्मा	रामसेन	निधत्त
129	ग	सूर्यमूर्तिः	अकलङ्क	"
130	सुमुखि	मन्त्रमूर्ति	निष्कलङ्क	अनिधत्त
131	गन्धर्वदेव	मन्त्रवित्	नागहस्ति	"
132	नरदेव	व्योममूर्ति	हस्तिमल्ल	सनिकाचित्त
133	योगदेव	वायुमूर्ति	विद्यानन्द	"
134	अज्रबाहु	रत्नातक	सिद्धार्थ	प्रथमानुयोग
135	कुरुचित्त	अनन्तदीप	धृतिषेण	"
136	भूकम्पन	स्वयम्बुद्ध	विजय	उत्पादपूर्व
137	अकम्पन	निराबाध	बुद्धिवर	"
138	भागीरथ	निष्कलङ्क	नन्दिदेव	अप्राप्तियि
139	नलिनपुंगव	भुवनेश्वर	धर्मसेन	"

The literary sources of these additional gotras, etc., are the same as those indicated above. Whether the list is complete with 140 gotras or not cannot be said definitely at present. Some authors like Hastimalla (A. D. 13th century) have found place in the Sūtra list. This fact too is quite in tune with our remarks above. However we must wait for further light on this Gotra-study.

THE KALPASŪTRA

BY

Dr. BIMALA CHURN LAW, M.A., B.L., Ph. D.

The Kalpasūtra is supposed to have been composed by Bhadrābāhu in 980¹ years after the passing away of Mahāvira, i.e., A.D. 454 during the reign of Dhruvasena, king of Gujarat. Yaśovijaya, Devichandra Jñānavimala and Sāmayasundra wrote commentaries on this text. All these commentaries were most probably written between 15th and 17th centuries according to Dr. Stevenson. Jacobi in the introduction to his edition of the Kalpasūtra says that the oldest commentary that he has used, is the Pañjikā written by Jina Prabhāmuni. There are various printed editions of this text. This text has been translated by H. Jacobi in S. B. E., Vol. XXII and by Dr. J. Stevenson in 1848. There is an edition of this work by Hermann Jacobi with an introduction, notes and a Prākṛit-Saṁskṛit Glossary published in 1879.

I have discussed in this paper some topics of the Kalpasūtra with the exception of the most important chapter on the biography of Mahāvira which I have had the occasion of dealing with elsewhere. In narrating the biographies of the other Jinas, I have followed the order mentioned in the Kalpasūtra but strictly speaking it is quite different.

According to the Śvetāmbaras, the Kalpasūtra is a great authority and is always read publicly during the Varṣāvāsa or Pajjuṣaṇ. The major portion of this work is devoted to the biography of Mahāvira.

1. The date 980 A. V. corresponds with 454 of the Christian Era on the supposition that at that time Nirvāṇa was placed 470 before Vikrama. But if at that time the older tradition by means of which the date of Nirvāṇa was fixed, was still in use, the corresponding year of the Christian Era would be 514 A. D.

The archaic style in which this portion is written has got much in common with the old sūtras written in prose. The Jinacaritra the Sthavīrāvalī and the Sāmācāris collected together in one book under the title of Kalpasūtra were, according to the tradition, included in Devarddhiganin's recension of the Jaina scriptures, though it is not contained in the Siddhānta. The Kalpasūtra is said to contain 1216 granthas. A careful study of the text leads us to calculate more than 100 granthas above the fixed number. It is full of repetitions.

The whole Kalpasūtra was read on the first night of the Pajjuṣaṇ but since it was read in the sabhā of King Dhruvasena to console him after the death of his beloved son, it was explained in nine Vācanās.

The Arhat Pārśva¹ was born of Queen Vāmā, wife of Aśvasena, King of Benares. Before the venerable ascetic Pārśvanāth Pārśva had adopted the life of a householder, he possessed supreme knowledge and intuition. When he understood, by virtue of this knowledge, that the time for his renunciation had come, he left all, and riding in a palanquin followed on his way by a train of gods, men and asuras, he went right through the town of Benares to the park called Āśramapada and proceeded to the excellent tree Aśoka. There he got down from his palanquin, took off his ornaments and with his own hands plucked out his hair in five handfuls. When the moon was in conjunction with the asterism Viśakhā he tore out his hair and entered the state of homelessness after fasting for two days and a half. For 83 days he did not take care of his body. He meditated on himself for 83 days practising strict morality and surmounting all obstacles. On the 85th day, Pārśva under a Dhataki tree, after fasting two days and a half, being engaged in deep meditation, reached the infinite, highest knowledge and intuition called Kevala..²

The venerable ascetic Pārśva had eight gaṇas and eight gaṇadharas (Subha and Āryaghosa, Vaśiṣṭha and Brahmācārin,

1. An ascetic who lived some 250 years before Mahāvīra.

2. According to the Digambara Śāstras, this great event happened in the life of Pārśva after four months from the day of his renunciation. Ed,

Saumya and Śrīdhara, Virabhadra and Yasa). He had an excellent community of 16,000 Śramaṇas with Āryadatta at their head; 38,000 nuns with Puṣpacūlā at their head; 164,000 lay votaries with Suvrata at their head; 327,000 female lay votaries with Sunandā at their head; ¹ 350 sages who knew the 14 Pūrvas; 1,400 sages who were possessed of the Avadhī knowledge; 1000 Kevalins; 1100 sages who could transform themselves, 600 sages of correct knowledge; 1000 male and 2000 female disciples who had reached perfection, 750 sages of vast intellect, 600 professors, and 1200 sages in their last birth. He instituted two epochs in his capacity of a Maker of an end; the epoch relating to generations, and the epoch relating to psychical condition; the former ended in the fourth generation, the latter in the third year of his Kevalaship. He lived 30 years as a householder, 83 days in a state inferior to perfection, something less than 70 years as a Kevalin, full seventy years as a Śramaṇa and a hundred years on the whole. He attained to Nirvāṇa in the first month of the rainy season, after fasting a month on the summit of mount Sameta, in the company of 83 persons².

Ariṣṭanemi or Numinātha was born of Queen Sīvā, wife of King Samudravijaya in the town of Sauripura (Soriya-pura). He was named Ariṣṭanemi as his mother saw in a dream a nemi, the outer rim of a wheel, which consisted of riṣṭa stones flying up to the sky. Riding in a palanquin Ariṣṭanemi went right through the town of Dvārāvati to the park called Revatika and stopped under the Aśoka tree. There after fasting two days and a half, he put on a divine robe and in the company of a thousand persons he tore out his hair and entered the state of homelessness.³ He did not take care of his body for 54 days. On the 55th day he acquired the highest knowledge and

1. The Digambara books name ten gaṇas and an equal number of the gaṇadhara; among whom Svayaṃbhū was the chief apostle. They also differ in giving the number of nuns, laymen and female lay-votaries, which according to them is 26000, one lac and three lacs respectively. Ed.

2. Digambaras minimise this number to 36 only. Ed.

3. The Digambaras disagree here with the Svetāmbaras, as they believe that Ariṣṭanemi became a naked saint like all other Tīrthaṅkaras. Ed.

intuition called Kevala after fasting three days and a half without taking water, under a tree on the summit of mount Girnar. He had 18 gaṇas and 18 gaṇadharas.¹ He had an excellent community of 18,000 Śramaṇas with Varadatta at their head, 40,000 nuns with Ārya Yakṣiṇī at their head; 169,000 lay votaries with Nanda at their head; 336,000 female lay votaries with Mahasuvrata at their head;² four hundred sages who knew the fourteen Pūrvas; 1500 sages who were possessed of the Avadhi knowledge; 1500 Kevalins; 1500 sages who could transform themselves; 1000 sages of vast intellect; 800 professors; 1600 sages in their last birth; 1500 male and 300 female disciples who had reached perfection. Ariṣṭanemi instituted two epochs in his capacity as a Maker of an end; the epoch relating to generations and the epoch relating to psychical condition, the former ended in the 8th generation and the latter in the twelfth year of his Kevalaship. He lived three centuries as a prince, 54 days in a state inferior to perfection, something less than seven centuries as a Kevalin, full seven centuries as a Śramaṇa, a thousand years on the whole. He liberated himself in a squatting position on the summit of Mount Girnar after fasting a month and in the company of 536 monks.

Rṣabha was born of Mārudevī, wife of the Patriarch¹ Nābhi. When Mārudevī conceived, she dreamt 14 dreams,² the first of which was a bull coming forward with his face, unlike mothers of Tirthakaras who see elephant in their first dream. The dreams were interpreted by the patriarch Nābhi in the absence of professional interpreters.

To be Continued.

1. Digambara books mention eleven gaṇas and 11 gaṇadharas; with Varadatta at their head. Ed.

2. Digambaras name one lac and 3 lacs male and female and lay votaries respectively. Ed.

3. Kulakara; these Kulakaras were the first kings and founders of families at the time when the rest of mankind were 'Yugalins'. The first Kulakara was Vimalavāhana; the seventh and last of the line Nābhi (Vide, S. B. E., pt. I. (Jaina Sūtras), p. 281 Fn.

According to the Digambara belief there were fourteen Kulakaras, beginning with Pratiśruti Nābhi was the 14th and last of them. (Ādi Purāṇa, 72.)

4. Digambaras name 16 dreams. Ed

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandarkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir, Brajendra Nath Seal, Sir D. B. Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee P. K. Acharya, MMs. Kuppaswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K. Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage).

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are:

- (1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi,
- (2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.
- (3) Barhut, 3 Vols. Rs. 18.
- (4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.
- (5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.
- (6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170, Maniktala Street.
Calcutta, (India).

—THE—
INDIAN HISTORICAL QUARTERLY

The foremost Oriental Journal in India, contains papers on Indian History, Literature, Religion, Philosophy, Archaeology, Numismatics, Epigraphy, etc., etc.

Highly spoken of by Eminent Scholars.

Every Issue affords much for Thinking and Learning.

Contributions from most eminent scholars in Indology from all over the world like Drs. Keith, Winternitz, Stein, Schrader, Walleser, Stecherbatsky, Przyluski La Vallée Poussin, N. Dutt, S. K. De, S. N. Das-Gupta, S. N. Sen, Tucci, Sten Konow, B. K. Sarkar and others.

Twelveth year commences from the March issue 1936. Each issue contains more than 200 pages, Super Royal 800.

Annual subscription Rs. 8-12 Inland; 14s. Foreign, including postage.

Some old volumes are available.



THE MANAGER
9, PANAMANAN GHOSE LANE CALCUTTA.